निवेदन

वर्त्तमान हिन्दी साहित्य में कविवर प्रसादजी का स्थान बहुत ऊँचा है। इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा ने हिन्दी के प्रायः सभी क्षेत्रों को अलंकृत किया है। प्रसादजी हमारे सामने कवि, नाटककार, प्रबन्ध-काव्यकार, कहानी और उपन्यास लेखक सभी रूप में आते हैं। उनकी कला के सम्बन्ध में उनके जीवन काल में ही कई पुस्तकें निकल जानी चाहिए थीं किन्तु हिन्दू लोग केवल मृतक-श्राद्ध ही जानते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के लिए हम लोग यह दावा तो नहीं करते कि उसके द्वारा हम प्रसादजी की प्रतिभा का पूर्ण उद्घाटन कर सके हैं, किन्तु हम यह अवश्य कहेंगे कि उसमें प्रसादजी के प्रत्येक साहित्यिक रूप पर थोड़ा बहुत प्रकाश डाला गया है यद्यपि इस पुस्तक के लेख भिन्न-भिन्न लेखकों की लेखनी से निकले हैं तथापि इस पुस्तक के सम्पादन में यह दृष्टिकोण रक्खा गया है कि प्रसादजी की कला के भिन्न-भिन्न अङ्गों को पृथक रूप से समझ कर उनकी विचार धारा, शैली, भाषा छन्द योजना आदि का समष्टि रूप से भी अध्ययन हो जाय।

एक ही व्यक्ति के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न लोगों से लेख लिखाने में चाहे समन्वय की भावना कम रहे (यद्यपि ऐसा इस पुस्तक में नहीं होने पाया है) किन्तु कार्य विभाजन के कारण भिन्न भिन्न पहलुओं का विशेष अध्ययन हो जाता है।

यदि इस पुस्तक को प्रकाशित कर हम प्रसाद साहित्य के विद्यार्थियों की कुछ सहायता कर सकें तो हम अपने को कृतकृत्य समझेंगे।

आगरा
ज्येष्ठ शुक्ला १०
१९९५

गुलाबराय
महेन्द्र

विषय-सूची

आत्मकथा

मधुप गुन-गुनाकर कह जाता कौन कहानी यह अपनी
मुरझा कर गिर रहीं पत्तियाँ देखो कितनी आज घनी
इस गम्भीर अनन्त नीलिमा में असंख्य जीवन इतिहास
देखो करते ही रहते हैं अपना व्यङ्ग-मलिन उपहास
तब भी कहते हो कह डालूँ दुर्बलता अपनी बीती
तुम सुनकर सुख पाओगे देखोगे यह गागर रीती
किन्तु कहीं ऐसा न हो कि तुमही खाली करने वाले
अपने को समझो मेरा रस ले अपनी भरने वाले
यह विडम्बना ! अरी सरलते तेरी हँसी उड़ाऊँ मैं
भूलें अपनी या प्रवञ्चना औरों की दिखलाऊँ मैं
उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की
अरे खिल-खिलाकर हँसते होने वाली उन बातों की
मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया
आलिङ्गन में आते-आते मुसक्या कर जा भाग गया
जिसके अरुण कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में
अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में
उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक की पन्था की
सीवन को उधेड़ कर देखोगे क्या मेरी कन्था की
छोटे-से जीवन की कैसे बड़ी कथायें आज कहूँ
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मैं मौन रहूँ
सुनकर क्या तुम भला करोगे मेरी भोली आत्मकथा
अभी समय भी नहीं, थकी सोई है मेरी मौन व्यथा

प्रसादजी की जीवन-कथा

—**——**—

प्रसाद जी का जन्म माघ शुक्ल १२, १६४६ को ऐसे कुल में हुआ था, जहाँ कहावत है—सोने की कटोरी में दूध-भात खाते हैं। सुँघनी साहु का घराना काशी में मशहूर है। वैश्य हलवाई समाज के बाहर भी इस घराने की खूब मान-प्रतिष्ठा है। पितामह बाबू शिवरत्न ने जरदा, सुरती और तम्बाकू से कारोबार को बढ़ाकर खूब धन और यश पैदा किया, साथ ही दोनों हाथों से दान भी देते रहे। उनकी दानशीलता की कहानी अब भी काशी के बड़े-बूढ़ों की जबान पर है। कहते हैं, अन्य लोग साक्षात होने पर 'महादेव' शब्द उच्चारण कर उनका स्वागत करते थे। यह प्रतिष्ठा काशी में काशी नरेश को छोड़ कर और किसी को प्राप्त नहीं है। साहु शिवरत्न के सुपुत्र बाबू देवीप्रसाद ने अपने पिता और वंश की प्रतिष्ठा कायम रक्खी। उनके दो लड़के हुए—ज्येष्ठ शम्भुरत्न और कनिष्ठ जयशंकर।

जयशंकर का बचपन खुशहाली में बीता। अपने बाद के जीवन में प्रसादजी अपने बाल-काल की स्मृतियाँ अपने इष्ट-मित्रों को सुनाया करते थे। लेकिन पुराने वैभव को लेकर उनमें अभिमान जरा भी न था। लड़कपन में उन्हें कसरत का भी

बहुत शौक था। इसीलिए अन्तिम दिनों से एक साल पहले तक उनका शरीर बहुत सुन्दर, तेजोमय और भव्य रहा। जिन लोगों ने उन्हें देखा है, उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना न रहे होंगे। उन्हें घुड़सवारी से भी शौक था। वह अच्छे सवार थे। जब उनके मित्र मोटर लेकर उनके पास जाते। तो प्रसादजी कहा करते "सवारी तो घोड़े की है।" एक सहृदय कवि जड मशीन से कब सन्तुष्ट हो सकता था।

जयशङ्कर की स्कूली शिक्षा अल्पकालिक रही। स्थानीय क्वीन्स कालेज में वे सातवें दर्जे तक पढ़ सके। इसी समय १२ वर्ष की अवस्था में, उनपर और उनके परिवार पर वज्रपात हुआ। पिता गया। परिवार का सारा भार ज्येष्ठ भ्राता शम्भुरत्न पर आ का स्वर्गवास हो पड़ा। उन्होंने स्कूल में तो नहीं, घर में जयशङ्कर की पढ़ाई की व्यवस्था की। विभिन्न अध्यापकों की सहायता से जयशङ्कर ने अँग्रेज़ी हिन्दी, उर्दू, फारसी और संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया। संस्कृत की ओर उनकी विशेष रुचि रही। इसी समय उनमें पुरातत्त्व-साहित्य के अध्ययन का बीज पड़ा। जिसके फलस्वरूप आगे चलकर प्रसादजी ने अपने प्राचीन साहित्य सम्बन्धी ज्ञान और बौद्ध कालीन इतिहास, वेद, पुराण, उपनिषद स्मृति आदि गहन विषयों के अध्ययन से हिन्दी-साहित्य को परिपूरित किया।

१७ वर्ष की अवस्था में प्रसादजी पर दूसरी विपत्ति पड़ी। बड़े भाई का स्वर्गवास हो गया। सारे परिवार और बड़े

व्यवसाय का बोझ कोमल किशोरवय बालक पर आ पड़ा। इस समय उनके सामने दो बड़ी समस्याएँ थीं। एक ओर तो बड़े भाई की अपूर्व दानशीलता और शाह-खर्ची के कारण चढ़ा हुआ पारिवारिक कर्ज। दूसरी ओर नाबालिगपन का लाभ उठाकर कुछ स्वार्थी सम्बन्धी उनकी जायदाद हड़प करने की चेष्टा कर रहे थे। प्रसाद जी ने इस सांसारिक घात-प्रतिघात द्वन्द्व और कोलाहल का साहसपूर्वक सामना किया और इसमें सफल भी हुए। सन् १९२९-३० तक उन्होंने समस्त पारिवारिक कर्ज अदा कर दिया।

जीवन-यापन के इन्हीं दिनों में प्रसादजी का व्यक्तित्व और संसार के प्रति उनकी विचारधाराओं की सृष्टि हुई। बाद में गहन अध्ययन के कारण उनमें दार्शनिकता आ गई। इन सब बातों की छाया उनकी रचनाओं में है। यह भी याद रहे, उन दिनों आज की भाँति जनता में राष्ट्रीय जागरण न था। उस समय साधारण-वर्गों में आर्यसमाजी आन्दोलन ही क्रान्ति का प्रतीक था। कहा जाता है, आदमी पर उसकी जवानी के दिनों का वातावरण उसके हृदय-पटल पर अमिट रेखा छोड़ जाता है। शायद इसी कारण प्रसादजी के उपन्यासों में आर्यसमाजी क्रान्ति का चित्र मिलता है।

अपने बड़े भाई के जीवन-काल में ही प्रसादजी को कविता से शौक हो गया था। असमय में ही पड़नेवाली विपत्तियों ने शायद किशोर प्रसाद के कोमल-हृदय को आक्रान्त कर दिय

था—उसमें टीस उत्पन्न की थी, जिसकी अभिव्यक्ति तुकबन्दियों में हुई। उस अल्हड़ जवानी में दूकान पर बैठकर प्रसादजी बहीखाते के रद्दी कागजों की पीठ पर कविताएँ लिखा करते थे। इस पर उनके बड़े भाई रुष्ट भी हुए थे, क्योंकि उनका ख्याल था कि इससे दूकान के काम में बाधा पड़ती है।

१९०७-८ के लगभग प्रसादजी की प्रारम्भिक कविताएँ सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगीं। उनकी प्रारम्भिक कविताएँ संस्कृत कवियों के अनुसरण पर, व्रजभाषा की पुरानी शैली में हैं। इसके बाद प्रसादजी ने खड़ी बोली में लिखना शुरू किया। नई शैली की कविता लिखने वालों में प्रसादजी प्रथम हैं। उस काल में उन्होंने अपनी आँखों से नई पीढ़ी के कवियों के प्रति पुराने हिन्दी-सहित्यिकों की प्रतिक्रिया—लोकमत की क्रीड़ा देखी। उन्हीं की प्रेरणा ने काशी से 'इन्दु' निकला, जिसमें उनकी रचनाएँ बराबर प्रकाशित होती रहीं। खेद है, 'इन्दु' असमय में ही बन्द हो गया।

प्रसादजी की प्रारम्भिक कविताओं का प्रथम संग्रह, कानन-कुसुम लगभग १९११ अथवा १९१८ में प्रकाशित हुआ। उनकी अन्य प्रारम्भिक कविता-पुस्तकें हैं—प्रेम-पथिक और महाराणा का महत्त्व। इन काव्य-ग्रन्थों ने हिन्दी कविता साहित्य में नवीन-परिवर्तन मचा दिया। इस तरह प्रसादजी हिन्दी के युग-प्रवर्तक कवि हैं।

प्रसादजी ने कविताएँ ही नहीं लिखीं, नाटकों की ओर भी

ध्यान दिया। उनका सब से पहला नाटक सज्जन है। यह अब अप्राप्य है। प्रारम्भिक नाटकों में उन्होंने काव्य का ही अधिक सहारा लिया है। नाटक के सभी पात्र कविता में बातचीत करते थे। करुणालय और उर्वशी नाटक ऐसे ही हैं। इसके बाद उन्होंने यह शैली छोड़ दी। प्रसादजी के बाद के नाटक खूब प्रसिद्ध हुए। कविता की भाँति प्रसादजी ने नाटकों में भी युग-परिवर्त्तन किया। उनके जैसा नाटककार हिन्दी में आज भी कोई नहीं। प्रसादजी के अधिक नाटक ऐतिहासिक हैं। उनका आधार-स्तम्भ प्राचीन भारतीय सभ्यता है। प्रसादजी के कुछ प्रसिद्ध नाटकों की सूची—चन्द्रगुप्त, अजातशत्रु, स्कन्द गुप्त, जनमेजय का नागयज्ञ, कामना, ध्रुवस्वामिनी।

सन् १९११ में प्रसादजी की पहली कहानी ग्राम शीर्षक से 'इन्दु' में प्रकाशित हुई। यह हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी है। संवत् १९६९ में प्रसादजी की ५ मौलिक कहानियों का 'छाया' नामक हिन्दी का प्रथम कहानी-संग्रह प्रकाशित हुआ। अब 'छाया' के तीसरे संस्करण में प्रसादजी की सं० १९६९ से १९९४ तक लिखी हुई ११ कहानियाँ संग्रहीत हैं। कविता और नाटकों की भाँति प्रसादजी ने कहानी के क्षेत्र में भी युगान्तर उपस्थित किया। प्रेमचन्द और सुदर्शन प्रसाद के बाद क्षेत्र में आए। उनकी कहानियाँ काफी लोकप्रिय हुईं फिर भी कहानी-साहित्य में प्रसादजी का अपना स्थान है। इन कहानियों में भी ज्यादातर प्राचीन भार-

तीय सभ्यता को प्रकाश मे लाने वाली हैं। कितनी सामाजिक कहानियाँ थी। अभी थोड़े दिन हुए प्रसादजी की नई कहानियों का संग्रह 'इन्द्रजाल' प्रकाशित हुआ था।

कुछ लोग आश्चर्य करते है कि किस तरह प्रसादजी व्यवसाय के साथ ही साहित्य की भी सृष्टि कर सके। इसके सिवा संस्कृत-साहित्य के अध्ययन में भी उनका काफी समय जाता था। इन सब बातों से पता चलता है कि प्रसादजी कितने कर्मशील व्यक्ति थे। गोवर्द्धन सराय मे उनके घर पर तथा नारियल बाजार-वाली उनकी दूकान पर साहित्यिकों का ताँता लगा रहता था। एक तरफ वह व्यवसाय को सँभालते थे, दूसरी तरफ साहित्यिक वार्तालापों का भी रस लिया करते थे। अधिकतर वह मंडली के बीच तटस्थता का भाव ग्रहण करते थे। और लोग बातें करते थे, प्रसादजी चुपचाप सुना करते थे। बीच-बीच में अपनी मधुर मुसकान के साथ दो-एक सरस बातों तथा पुरानी जीवन-स्मृतियों के साथ मंडली को मुखरित कर देते थे।

प्रसादजी विज्ञापन से बहुत डरते थे।* 'इन्टरव्यू', 'सम्मति', 'विवाद-ग्रस्त प्रश्नों के उत्तर'—इनसे वह दूर रहते थे। क्योंकि वह जानते थे कि [illegible] के पत्रकार कैसे तिल का ताड़ बना लेते हैं। सभाओं और कवि-सम्मेलनों में लोग

* प्रथम पृष्ठ पर प्रकाशित प्रसादजी के पद्य से इस कथन की पुष्टि होती है।

उन्हे बुलाते, लेकिन प्रसादजी हँस कर टाल देते। अगर कोई लेखक उनसे उनके जीवन-सम्बन्धी सामग्री की माँग करता, तब भी वह मौनावलम्बन कर लेते। जो लोग उनके सम्बन्ध मे लिखते थे, उन्हे उन्होने कभी प्रोत्साहन का एक शब्द भी नहीं लिखा। उनकी रचनाओ के विरुद्ध लिखने वालो से भी उन्होंने कभी कुछ नहीं कहा—हमेशा हँसकर उनका स्वागत किया।

प्रसादजी अपनी स्वजाति के उत्थान मे योग देने के लिए हमेशा तत्पर रहते थे। अपने स्वजातियो के मिलने पर इस विषय पर काफी चर्चा करते और परामर्श देते। वैश्य हलवाई समाज की हीनावस्था पर वह बहुत दुखी थे। अशिक्षा पर तो उनकी आँखो मे आँसू भर आते थे। लेकिन वे कोई काम ढिंढोरा पीटकर नहीं करना चाहते थे। कान्यकुब्ज वैश्य हलवाई महासभा के अखिल भारतवर्षीय अधिवेशन के सभापतित्व के लिए कई बार उनसे प्रार्थना की गई, लेकिन उन्होने सदैव असमर्थता प्रकट की। सन् २६ मे आपने किसी तरह इस पद को कबूल किया, लेकिन इसी समय घर मे किसी के बीमार पड़ जाने के कारण वह महासभा मे भाग न ले सके और थोड़े दिनो बाद सरदारी के पद से इस्तीफा दिया।

सन १९२५ मे प्रसादजी की अत्यन्त प्रसिद्ध कविता पुस्तक आँसू की रचना हुई। आँसू के बहुत से छन्दो की रचना बगीचे मे अथवा गंगा के बीच स्थल पर नाव पर हुई। कई की सिर-

जई, जिस पर सिघाड़े-से कटे हुए, जेब में चश्मे का केस और पेंसिल तथा पाकेट-बुक रखे हुए, ऊपर से शाल ओढ़ कर— इस तरह की वेश-भूषा में टहलते हुए कवि प्रसाद अक्सर उन दिनों 'आँसू' की पंक्तियाँ गुनगुनाया करते थे।

दिसम्बर १९३१ में प्रसादजी ने सपरिवार कलकत्ता और पुरी आदि स्थानो की यात्रा की। पुरी के समुद्र-तट पर ही उन्होंने अपनी इन बहुविख्यात पंक्तियों की रचना की।

"ले चल वहाँ भुलावा देकर
मेरे नाविक धीरे-धीरे।"

इन दिनों प्रसादजी ने 'जागरण' मे काफी दिलचस्पी ली। 'इन्दु' के बाद एक तरह से 'जागरण' दूसरा पत्र है, जिसकी ओट मे प्रसादजी का व्यक्तित्व था। पाक्षिक 'जागरण' विनोद-शंकर व्यास प्रकाशित करते थे। प्रसादजी उसके प्रत्येक अङ्क मे कुछ मैटर दिया करते थे। 'जागरण' का नाम उन्होंने ही रक्खा। इसे वह खूब फलते-फूलते देखना चाहते थे। उनकी अगणित स्मृतियो के खंडहर मे 'जागरण' भी दबा पडा है।

'कामायनी' महाकाव्य प्रसादजी की अन्तिम भेंट है। इसे समाप्त कर वह 'इरावती' उपन्यास लिख रहे थे [illegible]

[illegible] में लखनऊ [illegible] वहाँ से लौटने

के कुछ ही दिनों बाद २२ जनवरी को प्रसादजी ज्वर से पीडित हुए। २२ फरवरी को उनके कफ की जाँच कराई गई तो पता लगा प्रसादजी को राजयक्ष्मा हो गया है। दिनों-दिन उनकी तबीयत गिरती गई। प्रसादजी शायद इस भयानक रोग के अन्तिम परिणाम से भली-भाँति परिचित हो गए थे। डाक्टरों ने उन्हें बाहर जाने की सलाह दी, लेकिन इन्होंने काशी नहीं छोड़ी। कहा—जो कुछ होना होगा यहीं होगा। बीमारी के अन्तिम दिनों में उन्हें चर्म-रोग भी हो गया। अब उनकी सूखी हड्डियों पर चर्म का पतला-सा आवरण-मात्र रह गया था। वह सुन्दर मनोरम आकृति कितनी भयानक हो उठी थी। ९-१० नवम्बर से हालत बिगड़ने लगी। एकादशी की शाम को हालत ज्यादा खराब हो गई। साँस लेने में बहुत कष्ट होने लगा। डाक्टरों ने कहा—जो कुछ कहना हो कह दीजिए। प्रसादजी ने कहा—साँस लेने में बहुत कष्ट हो रहा है। उसे दूर करने की दवा दीजिए। ४॥ बजे जयशङ्करजी नश्वर शरीर के बन्धन से मुक्त होकर अमरों के लोक में पहुँच गये।

प्रसादजी की कला

प्रसादजी हिन्दी-साहित्य के सब से अधिक गम्भीर कवि थे।
उन्होंने जीवन के रहस्यपूर्ण तथ्यों का रहस्यपूर्ण भाषा ही में
प्रकाशन किया था। ज्ञात होता है कि वे आदि सृष्टि के अंतराल
में सृजन शक्ति के प्रेरक-बीज थे। कामायनी की रहस्यमयी
चरित्र-रेखा में उनकी यह शक्ति बहुमुखी होकर प्रकट हुई है।

प्रसादजी प्रथमतः ऐतिहासिक नाटककार थे। नाटक में
मनोवैज्ञानिक संघर्ष की आवश्यकता होती है। पात्र के चरित्र-
दर्शन में भावों की जटिल शृङ्खला भी स्पष्टता के साथ सामने
आती है। प्रसादजी की इसी शैली का प्रभाव उनकी कविता
पर भी पड़ा था। वे कहीं-कहीं बहुत मनोवैज्ञानिक हो गए हैं।
भावना की चरम अभिव्यक्ति अनेक रूपों में हमारे सामने आती
है। जिस प्रकार सूरदास ने अपने भ्रमरगीत में वियोग शृङ्गार
प्रत्येक संचारी भाव को गोपियों के अनुभाव और
लम्भ में प्रदर्शित किया है उसी प्रकार प्रसादजी ने आ
णा की चित्रावली प्रस्तुत की। उनके आँसू में जीवन की
ी करुणा है। हृदय के अपरिमित भावों का इन्द्रधनुष जैसे

आँसू के छोटे-से बूँद में प्रति बिम्बित हैं। जीवन जैसे करुणा की राशि में परिवर्तित हो गया है।

प्रसादजी की गम्भीरता कहीं-कहीं अस्पष्ट है। यह उनकी गहरी रहस्यवाद की विवेचना का ही फल है। यदि कबीर जैसा स्पष्ट महाकवि अपनी सरल भाषा में भी रहस्यवाद का विवेचन करता हुआ अस्पष्ट हो जाता है, तो प्रसाद की कठिन भाषा में ऐसा होना कोई आश्चर्यजनक नहीं। प्रसाद भावों के साथ-साथ भाषा में भी गूढ़ हो जाते हैं। जैसे वे एक मौन तपस्वी हैं। जब तक प्रसाद का दार्शनिक और कवि एक रूपता लिए रहता है तब तक तो कविता एक संदेशवाहिनी बनी रहती है। किन्तु जहाँ प्रसाद के दार्शनिक ने कवि पर विजय पाई वहाँ उनकी पंक्तियों में केवल शास्त्र की जटिल विवेचनाएँ ही सूत्रों की भाँति अगम और दुर्बोध हो जाती हैं। अधिक स्थानों पर उनकी भावुकता का रहस्यवाद से मिलाप हुआ है, और वहाँ कवि का संदेश महान शब्दों में घोषित हुआ है। यही संदेश कवि की प्रतिभा का द्योतक है। प्रसादजी भावों की चित्रावली में रंग भरते हैं तब वे कोमल कवि हैं, जब वे भावों के रेखा-चित्र खींचते हैं तब वे दार्शनिक हैं।

उलझते, वे भावना का स्वाभाविक प्रवाह ही पंक्तियों में प्रदर्शित कर देते हैं। यही उनके गीतिकाव्य की सफलता है।

स्कन्दगुप्त में चरित्र की संघर्षमयी भावना में भी जहाँ गीतों की सृष्टि हुई है, वहाँ प्रसादजी बड़े कोमल कवि के रूप में दृष्टिगत होते हैं।

प्रसादजी उपन्यास-लेखक और कहानीकार भी थे। उनका कंकाल उपन्यास और आकाशदीप कहानी-संग्रह हिन्दी-साहित्य की निधियाँ हैं। जीवन की आलोचना कितने रूप ले सकती है, यह बात उनकी कहानियों से स्पष्ट है। इन समस्त आलोचनाओं में हिन्दू-संस्कृति की छाप है। उनका ऐतिहासिक अध्ययन इतना विस्तृत है कि वह उनके साहित्य ज्ञान की विपुलता से समानान्तर होकर एक हो गया है। इसीलिए उनके नाटकों और कहानियों में यह ऐतिहासिक तथ्य न तो तत्वान्वेषी की नीरसता लेता है और न उपदेशक की तीव्रता। उनका समस्त दृष्टिकोण कला का बहुरंगी रूप धारण कर जीवन में प्रकाश डालने वाला एक ज्योतिरूप हो जाता है। नाटक, उपन्यास और कहानियों में प्रसादजी आध्यात्मिकता को नहीं भूलते। कल्पना जगत में वे चित्रों की सृष्टि अवश्य करते हैं, पर वे उन्हें लौकिकता में नहीं सजाते। उनके सजाने की सामग्री है एक आध्यात्मिक संकेत।

प्रधानतः प्रसादजी हमारे साहित्य के दार्शनिक कवि थे।

कविवर प्रसाद
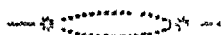
कलाकार जयशंकरप्रसादजी की प्रत्येक रचना में कवि हृदय का स्पन्दन स्पष्ट रूप में विद्यमान है। प्रसादजी का जीवन काव्यमय था। वे एकांगी थे—उनका साहित्य सर्वांगीण है। जयशंकरप्रसाद के पूरे अध्ययन के लिए उनका कवि-रूप समझना अनिवार्य है। कहानियों, नाटकों, तथा उपन्यासों में उनकी काव्यात्मा अप्रकट रूप में ध्वनित हुई है।

कवि प्रसादजी का खड़ी बोली कविता के विकास के इतिहास में प्रमुख स्थान है। आपकी कविता उस समय आविर्भूत हुई जिस समय हिन्दी का द्विवेदी युग प्रारम्भ हो रहा था। यह वह युग था जब हिन्दी-काव्य को ब्रज-भाषा की मधुरता के सामने अपना अस्तित्व बनाना पड़ रहा था। स्वयं प्रसादजी ने सर्व प्रथम ब्रज-भाषा में अपनी प्रारम्भिक कविताएँ लिखीं। उन्होंने संस्कृत और बंगला से आत्म-प्रेरणा पाई और हिन्दी कविता की पुरानी शैली से पृथकत्व प्राप्त किया। सम्वत १९६६ में प्रसादजी की ब्रज भाषा की रचनाओं का एक संग्रह "कानन-कुसुम" के नाम से प्रकाशित हुआ। इसमें अधिकतर कविताएँ भाव-प्रधान न होकर इतिवृत्तात्मक

हैं। कुछ कविताएँ तो प्राचीन आख्यानों की साधारण अभिव्यक्ति है। यह संग्रह प्रसादजी के काव्य-विकास को समझने के लिए आवश्यक है, अन्यथा इसका स्वतन्त्र महत्त्व नहीं के बराबर है।

खड़ी बोली के क्षेत्र में, प्रसादजी द्विवेदी-युग के प्रभाव से अलग रहे। आपकी कविताएँ भी अधिकतर 'सरस्वती' में न छपकर "इन्दु" मासिक-पत्र में प्रकाशित होती थीं। "चित्राधार", जो प्रसादजी की तत्कालीन गद्य-पद्यमय रचनाओं का संग्रह है, देखने पर आपके साहित्यिक क्रम-विकास का परिचय मिलता है। खड़ी बोली की कविताएँ प्रारम्भ में ब्रजभाषा की परम्परा का अनुकरण-मात्र थीं। प्रसादजी ने भी मुक्तक प्रेम तथा शृङ्गार पर रचनाएँ कीं। परन्तु आपने इनमें ब्रजभाषा [illegible] ने कई विभिन्नतायें भी रक्खीं। प्रसादजी [illegible]

ऐसी ही परिस्थिति में आपकी दूसरी रचना "प्रेम-पथिक" निकली। संवत् १९६२ में प्रसादजी ने इसे व्रजभाषा में लिखा था। परन्तु संवत् १९७० में आपने उसको 'परिवर्तित, परिवर्द्धित तुकान्त-विहीन' रूप कर दिया। प्रसादजी को साहित्यिक शुद्ध अतुकान्त कविता का जन्मदाता मानना चाहिए। आपने अतुकान्त कविता किसी साहित्यिक सिद्धान्त वश नहीं अपितु उसको अधिक स्वाभाविक तथा वार्तालाप, गीति-नाट्य के योग्य बनानेके लिए ही लिखा। प्रसादजी ने अतुकान्त कविता को एक सरता (monotony) के दोष से बचाने के लिए विभिन्न छन्दों में लिखा है प्रसादजी ने गीति-नाट्य अथवा प्रबन्ध-काव्य में, पात्रों के वार्तालाप में जो प्रवाह तथ स्वाभाविकता लाने का अतुकान्त-कविता द्वारा प्रयत्न किय उसमें वे सफल हुए तथा अन्य कवियों ने भी आपका अनुकरण किया। रायकृष्णदास के "उपवन" तथा पन्तजी की "ग्रन्थि इसी अनुकरण के परिणाम हैं। आगे चलकर 'निराला ने भी अतुकान्त गीत लिखे। प्रसादजी ने भी अपने 'लहर नामक संग्रह में और भी कई प्रौढ़ अतुकान्त रचनाएँ लिखीं 'निराला' और 'प्रसाद' मानो एक ही कण्ठ के दो उद्गार हैं "प्रेम-पथिक' में अतुकान्त छन्द घनाक्षरी प्रयुक्त हुआ है उसमें प्रवाह, लय, संगीत तथा ध्वनि सभी कुछ है। 'प्रसादजी की प्रारम्भिक कविताएँ जितनी सरल हैं, बाद की उतनी ही गूढ़ तथ कठिन। 'प्रेम-पथिक" के कथानक में एक सरल प्रेम की कथा है

अनुपम काव्य-कृति है। उससे एक युग का प्रारम्भ होता है। इसीलिये "झरना" काव्य-इतिहास का एक स्वर्ण-पृष्ठ है।

"झरना" खड़ी-बोली में भावपूर्ण कविता करने का प्रथम सफल प्रयास है। यद्यपि इसमें सगीत और ध्वनि-सौंदर्य की कमी है फिर भी छन्दों की विभिन्नताएँ पुस्तक को एकस्वर होने से बचाती हैं। "झरना" मे कवि के विभिन्न समय एवं परिस्थितियों मे निकले हुए स्वतन्त्र उद्गार हैं प्रत्येक कविता की आत्मा मे मूलत. प्रेम है। अपनी विभिन्न मनोदशाओं (Moods) और भावों की सूक्ष्म अभिव्यञ्जना इस पुस्तक मे की गई है। इतनी सुबोध भावात्मक कविता उस समय हिन्दी मे नहीं लिखी जाती जाती थी। इसीलिए "झरना" आज भी हमारे लिए एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

"झरना" मे कुल ४८ कविताएँ हैं। प्रत्येक मे भावुकता एवं प्रेम-सूत्र दर्शनीय है। अनेकों कविताएँ बहुत ही सुन्दर तथा उच्चकोटि की हैं। स्थान-स्थान पर एक नैसर्गिक सत्ता की ओर अनिश्चित सकेत है। इसमें "छायावाद" अपनी प्राथमिक तथा अविकसित अवस्था मे विद्यमान है। कवि "झरना" को देख कर उसके सौंदर्य तक ही सीमित नहीं रहता, अपितु—

"कल्पनातीत काल की घटना।
हृदय को लगी अचानक रटना॥
देखकर झरना—"

उसे 'बात कुछ छिपी हुई है गहरी' का भान होता है।

अपने काव्य-विषय से बाहर एक ऐसे छाया-लोक मे कवि पहुँच जाता है जहाँ की बात को वह साँसारिक साधारण भाषा में नहीं व्यक्त कर सकता केवल संकेत भर कर देता है। ऐसे 'मूड' का चित्रण "झरना" की अनेकों कविताओं मे है।

इसी प्रकार 'किरण' शीर्षक कविता में छायावाद की झलक है। प्रसाद जी के लिए 'किरण' "किसी अज्ञात विश्व की विकल-वेदना- दूती-सी" है। प्रकृति मे "विषाद की मूक-छाया है। दीप के प्रति कवि का कथन है—

किसी माधुरी स्मित-सा होकर यह संकेत बताने को,
जला करेगा दीप, चलेगा यह सोता बह जाने को।"

"झरना" की अनेकों कविताओं मे प्रसादजी के प्रेम-पूर्ण आशामय उद्गार है। कवि के लिए संसार आशामय है। 'मिलन' कविता में ये पक्तियाँ है—

अनेकों कवियों ने "आँसू" का अनुकरण किया। प्रेम और निराशा ये दो प्रधान बातें आँसू में हमें मिलती हैं। "आँसू" के कवि के लिए यह संसार "व्यथित-विश्व-आँगन" है। वह प्रश्न कर बैठता है—

"क्यों छलक रहा दुख मेरा,
ऊषा की मृदु पलकों में ?"

तथा—"जीवन में मृत्यु बसी है,
जैसे बिजली हो घन में।"

स्थल-स्थल पर प्रेम-उद्गार बड़ी मार्मिक शैली में व्यक्त किये गये हैं—

"विष-प्याली जो पीली थी,
वह मदिरा बनी नयन में।
सौन्दर्य पलक प्याले का,
अब प्रेम बना जीवन में।"

'आँसू' में निराशा के साथ-साथ सामञ्जस्य बुद्धि का भी समावेश हुआ है। कवि मानो किसी ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचा है जिसे वह संसार के सम्मुख रख देना चाहता है—

"मानव जीवन वेदी पर
परिणय हो विरह मिलन का
दुख सुख दोनों नाचेंगे
है खेल आँख का मन का।"

'आँसू' का कवि भाव-कल्पना से भरा हुआ है। उसमें

देखा जाने लगा था। सब से पहिले उसी ओर दृष्टि जाना स्वाभाविक था। वीरता को जाग्रत करना चैतन्य का सब से पहला लक्ष्य था। उस काल के नाटक भारतीय वीरो के चरित्रो की रक्षा करने और उनके वीर-वैभव को बतलाने के लिये लिखे गये। इन नाटको मे पक्ष को प्रकट करने की इतनी प्रबलता मिली कि स्वाभाविक चित्रण कुछ कुण्ठित सा हो गया।

प्रसादजी मे भारतीय गौरव प्रकट करने की प्रेरणा तो उतनी ही तीव्र है जितनी भारतेन्दु काल मे, वरन उससे भी कुछ अधिक तीव्र हो उठी है, किन्तु दृष्टि अब वीरता मात्र प्रदर्शित करना नहीं। आगे आगे जैसे समय बढ़ता गया भारत मे एक और प्रकार की मनोवृत्ति प्रबल होने लगी। वीरता के नाम से तलवार और रक्तपात का युग उतना आकर्षक न रह गया था—अंग्रेजी शासन के विस्तार ने नागरिको मे तलवार और रक्त का भय व्यक्ति के उतने निकट नहीं रहने दिया था जितना मध्यकाल मे था। युद्ध के भावना मे राजनीति कौशल एक दम त्याज्य हो चुका था। पहले जहाँ तलवार साहस का चिन्ह था अब बन्दूक और मशीन—बम और तार [illegible] आने लगी थीं—और इनसे [illegible] 'विशाल [illegible]' स्वभाव का रागात्मक भारतीय [illegible] उस [illegible] अथवा [illegible] नहीं समझ सकता था—फिर वह [illegible] की ओर यदि बढ़ सकता था तो उसमे कुछ दार्शनिक मधुरता होने के कारण ही बढ़ सकता था। अब उसमे उसके लिए आवेग नहीं था। तो जैसा कहा, एक ओर

प्रसादजी के नाटक

भारतेन्दु से लेकर प्रसादजी के हिन्दी-गगन में आविर्भूत होने तक कई दशाब्दियाँ बीत जाती है। इस अवकाश में नाटक-रचना की प्रगति इतनी अवहेलनीय नहीं रही। किन्तु 'प्रसाद' जी तो इस क्षेत्र के चमचमाते नक्षत्र की भाँति निकले और उन्होंने जो कुछ लिखा इतना मौलिक था कि प्रेरणा के मूल रूप को छोड़कर और कुछ भी भारतेन्दु युग का अवशेष उनमें नहीं रह गया। प्रेरणा का वह मूल-रूप भी सामयिक मनोवृत्ति का परिणाम है। भारतेन्दु के काल मे ही भारत में अपनत्व की सोयी हुई चेतना उद्‌बुद्ध होने लगी थी। वह अपनी सम्पत्ति की परीक्षा करने और उसका हिसाब-किताब देखने मे संलग्न हुआ। मुसलमानी शासन के क्षोभ ने उसकी वीरता की भावना का तिरस्कार किया था। किसी कारण से क्यों न हो इतने बड़े देश का कुछ आक्रमणकारियों के सामने घुटने टेक देना इस बात का प्रमाण था कि भारतीयों में वीरता का अभाव हो गया था। उनके दिग्विजयी इतिहास को सन्देह की दृष्टि से

पड़ेगा—अब गौरव के प्रकाशन की बात नहीं, अब गौरव की मूल तीलियों को चमचमाने, उनके ठीक अर्थ को स्पष्ट करने की आवश्यकता थी—और उसकी तीलियाँ क्या महमूद गजनवी के बाद के भारत में रखी थीं। महाराणा प्रताप और शिवाजी को स्पष्ट करने से वह कहाँ हाथ लगने को थी। सम्राट् हर्ष की मृत्यु ने तो भारत की मृत्यु हो गई थी। भारत का जो कुछ अपना था वह उससे पूर्व ही था और उसी को खड़ा करने की आवश्यकता थी।

प्रसादजी का सारा आख्यान इन्हीं पूर्व युगों से लिया गया है। 'करुणालय' गीति-नाट्य (Melo Drama) वैदिक घटना का रूपान्तर है, 'राज्यश्री' हर्ष काल की वस्तु है—हर्ष की अभिनन्दनीय भगिनी जिसने अपने दुर्भाग्य को देश के सौभाग्य में परिणत करने का इतना उद्योग किया कि चीनीभाजी अपने संस्मरणों में उसे अमर कर गया है।

उनका 'जनमेजय' पुराणों की वस्तु है। अजातशत्रु बौद्ध काल के आरम्भ की, चन्द्रगुप्त मौर्य काल के आरम्भ की, स्कन्दगुप्त गुप्तकाल के अन्तिम समय की वस्तु है। नाटकीय द्वन्द्व का मानव सन्धि युगों में ही विशेष स्पष्टता होता है और ऐसा नाटककार जो घटना और नियति को जीवन में कम महत्व न देता हो, उसे तो अपनी सामर्थ्य प्रदर्शन के लिए हल-चलपूर्ण सन्धि ही विशेष उपयुक्त प्रतीत हो सकती है। प्रसाद [illegible]न्तर में यद्यपि एक कलाकी नवनीत मूर्ति [illegible] रही है

रहेगा—अब गौरव के प्रकाशन की बात नहीं, अब गौरव की मूल तीलियों को चमचमाने, उनके ठीक अर्थ को स्पष्ट करने की आवश्यकता थी—और उसकी तीलियाँ क्या महमूद गजनवी के बाद के भारत में रखी थीं। महाराणा प्रताप और शिवाजी को स्पष्ट करने से वह कहाँ हाथ लगने को थी। सम्राट् हर्ष की मृत्यु से तो भारत की मृत्यु हो गई थी। भारत का जो कुछ अपना था वह उससे पूर्व ही था और उसी को खड़ा करने की आवश्यकता थी।

प्रसादजी का सारा आख्यान इन्हीं पूर्व युगों से लिया गया है। 'करुणालय' गीति-नाट्य (Melo Drama) वैदिक घटना का रूपान्तर है, 'राज्यश्री' हर्ष काल की वस्तु है—हर्ष की अभिनन्दनीय भगिनी जिसने अपने दुर्भाग्य को देश के सौभाग्य में परिणत करने का इतना उद्योग किया कि चीनी यात्री अपने संस्मरणों में उसे अमर कर गया है।

उनका 'जनमेजय' पुराणों की वस्तु है। 'अजातशत्रु' बौद्ध काल के आरम्भ का, 'चन्द्रगुप्त' मौर्य काल के आरम्भ का, 'स्कन्दगुप्त' गुप्तकाल के अन्तिम समय की वस्तु है। नाटकीय द्वन्द्व की सामग्री मध्य युग में [illegible] होता है और ऐसा नाटककार जो घटना और [illegible] जीवन में [illegible] महत्त्व न देता हो [illegible] अपनी सामग्री [illegible] बलपूर्ण सन्धि ही विशेष उपयुक्त प्रतीत हो सकती है। प्रसाद जी के अन्तर में यद्यपि एक कलाकार [illegible] मूर्ति [illegible] है

हर्ष—(सब मणिरत्न दान करता हुआ अपना सर्वस्व उतार देता है (राज्यश्री से)—दो बहिन! एक वस्त्र। राज्यश्री देती है।

हर्ष—क्यों, मेरी इतनी विभूति और प्रतिपत्ति के लिए हत्या की जा रही थी न? मैं आज सब से अलग हो रहा हूँ—यदि कोई शत्रु मेरा प्राण दान चाहे, तो वह भी दे सकता हूँ।

"जय महाराजाधिराज हर्षवर्धन की जय।"

सुएन—यह भारत का देव-दुर्लभ दृश्य देख कर सम्राट! मुझे विश्वास हो गया कि यही अमिताभ की प्रसव-भूमि हो सकती है।

फिर नीति की व्याख्या-सी ध्रुवस्वामिनी में मिहिर देव का कथन है—'राजनीति? राजनीति ही मनुष्य के लिये सब कुछ नहीं है। [illegible] भी हाथ न धो बैठो, [illegible]

हुआ है। अब सृष्टि को नर्म कार्यों में विडम्बना की आवश्यकता नहीं।···विडम्बना का उत्थान हो।

और आगे के नाटकों में कितनी जटिलता आ गई—अन्तर्द्वन्द्व और उन सब में 'आत्मगत्व' के सत्य को यथार्थ प्रकाशित करने का भाव अग्रसर होता प्रतीत होता है।

ऐसी सामग्री और भावोद्भावना से प्रसादजी ने प्रत्येक नाटक में कवि-कर्म का उद्यापन किया है। उनकी सृष्टि में कोमल कठोर और, कठोर कोमल होते देखे गये हैं। बहुत से नियति के डोरे की कठपुतली बने बढ़े चले जाते हैं। चन्द्रगुप्त तक उन्हें किसी ब्राह्मण के दर्शन न हुए थे अनएव सभी नाटकों में स्त्रीत्व का प्रधानता थी। स्त्री मय कला उनके सामने नाचती थी। जीवन और उसका अर्थ यदि कहीं था तो राज्यश्री में सुरमा में, वासवी में, मल्लिका में, देव सेना में, ध्रुवस्वामिनी में—पुरुष तभी प्रबल हुए जब ब्राह्मण चाणक्य उन्हें मिला जिसने चन्द्रगुप्त को चन्द्रगुप्त बनाकर खड़ा कर दिया। वहीं प्रसादजी का नाटकत्व भी समाप्त होगया। स्त्रीत्व का पुरुषत्व में पर्यवसान!

प्रसाद जी के इन सभी नाटकों में एक विशेषता मिलती है—वह 'विदग्ध व्यग्रता' है। सभी पात्रों में एक उत्तेजना व्याप्त है, एक हलचल और व्याकुलता है— ठीक भीड़ से भरे बाजार में उनके पात्र बिना इधर उधर देखे हड़बड़ी में धक्कामुक्की से अपना मार्ग बनाते चलते-से और उस सबके ति

अपना कारण और अपनी व्याख्या रखते से चलते हैं। इसीलिए उनमें दार्शनिकता भी है। कवि ने झूठ या सच इसी 'विदग्ध व्यग्रता' में अन्तर्द्वन्द्व मानकर संभवतः सन्तोष किया है।

इन ऐतिहासिक नाटकों को छोड़ काल्पनिक नाटकों में 'कामना' सुप्रसिद्ध है। "कामना' वस्तुत रूपक है—आभौतिक और आचरण के भावात्मक तत्वों को रूपक दिया गया है। कामना, विवेक, विनोद, लीला, विलास जैसे पात्रों की इसी प्रकार अवतारणा की गई है जिस प्रकार धर्म-युग में प्रबोध चन्द्रोदय में सत्य, बुद्धि, मोह आदि की इसका विषय का केन्द्र यही है कि 'विलास' एक अबोध वातावरण रहने वाले व्यक्तियों में जाकर महत्वाकांक्षिणी 'कामना' का साथ कर अनेकों नयी धारणाओं की सृष्टि करता है—शराब और सोना बनाता है, रानी और न्याय के शासनों की प्रतिष्ठा करता है—सभ्यता की बातों का धीरे धीरे प्रवेश करता है और वैसे ही धीरे धीरे मानवता का ह्रास और पतन का आतंक बढ़ता जाता है आधुनिक सभ्यता जिसमें 'पद' और 'सोना' पूज्य है यहाँ मानव जीवन को एक हम कलुषित करने वाली है

इस प्रकार प्रसाद जी के नाटकों में नए अध्ययनशन्त संस्कृत तथा पाश्चात्य साहित्य प्रणाली दृष्टिगोचर होती है। कुल, जाति मानव भाव और विश्वात्म की व्याख्या वहाँ है। क्षमा के अभूतपूर्व उदाहरण उपस्थित है—त्याग की दिव्य

अपना कारण और अपनी व्याख्या रखते से चलते हैं।
इसीलिए उनमें दार्शनिकता भी है। कवि ने झूठ या सच इसी
'विदग्ध व्यग्रता' में अन्तर्द्वंद्व मानकर संभवत: सन्तोष किया है।

इन ऐतिहासिक नाटकों को छोड़ काल्पनिक नाटकों में
'कामना' सुप्रसिद्ध है। "कामना' वस्तुत रूपक है—आभौतिक
और आचरण के भावात्मक तत्वों को रूपक दिया गया है।
गमना, विवेक, विनोद, लीला, विलास जैसे पात्रों की उसी
प्रकार अवतारणा की गई है जिस प्रकार धर्म-युग में प्रबोध
चन्द्रोदय में सत्य, बुद्धि, मोह आदि की इनका विषय का केन्द्र
यही है कि 'विलास' एक अबोध वातावरण रहने वाले व्यक्तियों
में जाकर महत्वाकांक्षिणी 'कामना' का साथ कर अनेकों नयी
धारणाओं की सृष्टि करता है—शराब और सोना बनाता
है, रानी और न्याय के शासनों की प्रतिष्ठा करता
है—सभ्यता की बातों का धीरे धीरे प्रवेश करता
है और वैसे ही धीरे धीरे मानवता का ह्रास और पतन का
आतंक बढ़ता जाता है आधुनिक सभ्यता जिसने 'पद' और
'सोना पूज्य है यही मानव जीवन को नष्ट [illegible] करने
वाली है

इस प्रकार प्रसाद जी के नाटकों में एक अध्ययनाक्रान्त
संस्कृत मना परिष्कृत साहित्य प्रणाली दृष्टिगोचर होती है।
कुल, जाति मानव भाव और विश्वात्मा की व्याख्या वहाँ है।
क्षमा के अभूतपूर्व उदाहरण उपस्थित है—त्याग की दिव्य

'कामना' रूपक नाटक है। फूलों के द्वीप में तारा की सन्तान युगों से रहती आई थी। वहाँ सत्य, सरल और [illegible] शासन था। किन्तु [illegible] के [illegible] विलास ने यहाँ [illegible] का प्रसार किया। [illegible] मदिरा के प्रलोभन में [illegible] कामना, [illegible] और विलास ने अपना लिया। फिर इस फूलों के द्वीप में अत्याचार और अनाचार फैल गए, और वहाँ का जीवन [illegible] हो गया।

विज्ञान की दृष्टि से यह विचार गलत हो सकता है किन्तु कवि-कल्पना ने सदैव ही अतीत को सुन्दर रूप में देखा है। मनुष्य आदिम युग में सुखी था। सभ्यता ने उसकी शान्ति नष्ट कर दी। विकासवादी कहेंगे कि मनुष्य ने निरन्तर उत्तरोत्तर उन्नति की है।

तारा की सन्तान का इतिहास बड़ा सुन्दर है। "जब विलोड़ित जलराशि स्थिर होने पर यह द्वीप ऊपर आया, उस समय वे शीतल तारिकाओं की किरणों की डोरी के सहारे नीचे उतारे गए।" खेल के लिए इन्हें फूलों के द्वीप भेजा गया है। खेल समाप्त कर थकी हुई तारा की सन्तान चन्द्रमा के शीतल पथ में वापस चली जाती है।

इस द्वीप में पुरातन का समाजवाद है। स्त्रियाँ कपास ओटतीं, सूत कातती और जल भरती हैं। पुरुष खेत जोतते और अन्न उपजाते हैं। इसी से सार्वजनिक जीवन चलता है। इस भोली जाति में विलास ने सभ्यता, सुवर्ण और मदिरा लाकर खलबली मचा दी।

रूपक बद्ध नाटकों में सफल चरित्र-चित्रण असम्भव-सा होता है। पात्रों में व्यक्तित्व के स्थान पर विचार-जाल रहते

है। फिर भी 'कामना' के पात्रों में अपना व्यक्तित्व और विशेषता प्रचुर मात्रा में है।

अभिनय की दृष्टि से शायद पात्रों की संख्या कुछ अधिक हो। नए अंक और दृश्यों में निरन्तर नए-नए पात्र लाए गए हैं। आदि से अन्त तक कुछ ही पात्र हमारे सामने रहे हैं। इनमें प्रमुख कामना, विलास, लीला, विनोद, लालसा, संतोष और विवेक हैं।

विलास का चित्रण सुन्दर हुआ है। उसके प्रति आकर्षण और मोह-सा होता है। स्वर्ण-पट्ट पहने समुद्र के पार से बाँसुरी बजाता हुआ वह सुन्दर युवक फूलों के द्वीप आया। क्या आश्चर्य, यदि कामना ने उसे आत्मसमर्पण कर दिया? एक-एक कर लीला, विनोद, लालसा उसके वश में हो जाते हैं। बुड्ढा विवेक और सन्तोष—केवल यह दो उसके जादू से बचे। विवेक का चित्रण भी सफल हुआ है। विलास का खेल बिगाड़ने बार-बार वह पागल की भाँति ठीक मौके पर जा पहुँचता है।

[illegible] जी के नाटकों का सबसे बड़ा आकर्षण उनकी काव्य [illegible] है। आपके गीत [illegible] मीठे और भावपूर्ण होते हैं। कामना में भी अनेक गाने इस कोटि के हैं। सबसे सुन्दर गान [illegible] है

सघन वन वल्लरियों के नीचे
ऊषा और सन्ध्या किरनों ने तार बीन के [illegible]

हरे हुए वे गान जिन्हें मैंने आँसू से सींचे।
स्फुट हो उठी मूक कविता फिर कितनों ने दृग मींचे।
स्मृति-सागर में पलक-चुलुक से बनता नहीं उलीचे।
मानस-तरी भरी करुणा-जल होती ऊपर-नीचे।"

फूलों के द्वीप में प्रभात का वर्णन, जिससे नाटक आरम्भ हुआ है पढ़ने में तो मधुर है—

"ऊषा के अङ्क में जागरण की लाली है। दक्षिण-पवन शुभ्र मेघमाला का अंचल हटाने लगा। पृथ्वी के प्रांगण में प्रभात टहल रहा है। विशाल जलराशि के शीतल अंक से लिपटकर आया हुआ पवन इस द्वीप के निवासियों को कोई दूसरा सन्देश नहीं, केवल शान्ति का निरन्तर संगीत सुनाया करता।"

किसी उच्चकोटि के अभिनेता से ही रंगभूमि में ऐसी भाषा अच्छी लगेगी।

नाटक सुखान्त है। इस देश में दुखान्त नाटक लिखे ही नहीं जाते थे। प्रसाद जी उसी लीक पर चले। विलास के अत्याचार से पीड़ित द्वीप-वासियों ने उसे निकाल बाहर किया। किन्तु क्या स्वर्ण और मदिरा का स्वाद वे एकदम भूल गये? क्या काल-चक्र को कोई उल्टा भी फेर सकता है?

"कामना" कवि के हृदय की व्यथित पुकार है। सभ्यता के जाल में दुखी वह जीवन की अतीत स्वतन्त्रता और सादगी

के लिए विकल है। किन्तु जग के इस दुःस्वप्न से हम जाग नहीं सकते।

"कामना" में संगीत है, विचार-गम्भीरता है, सफल चरित्र-चित्रण है। भाषा में माधुरी और कल्पना में कोमलता है। 'कामना' का स्थान प्रसाद-साहित्य में और भी ऊँचा होना चाहिये।

प्रसाद के गीत

संगीत संसार की दवा है। विश्व की वेदना के लि
संसार के झंझटों के लिए, स्वयं जीवन की परिस्थितियों
भाग्य की, विडम्बना के लिए एक मात्र अचूक औषधि है। गी
गीत की तन्मयता मे, उसकी काल्पनिक सुधा-माधुरी में,
के उतार-चढ़ाव मे, उस क्षणिक सुख की प्रत्यक्ष हुई भल
में मनुष्य का सारा राग-द्वेष, दु ख-दैन्य, उसकी असफ
विकलता, विह्वलता बह जाती है। उस समय प्रत्यक्ष
कठोरता पर कल्पना का आवरण पड जाता है, उस
धारा के प्रवाह मे स्वय दु ख अपनी कसक खोकर मधु
हो जाता है। गीत मे वह अलौकिक आह्लाद मिलता है
सुख को सुखा-तिरेक मे, दु ख को आनन्द में बदल देता है।

दु ख ही मे गीत का उत्पत्ति है। यदि ससार सर्व
होता तो कविता की उत्पत्ति शायद ही होती। अपूर्
अभाव, वेदना और कविता शायद एक ही भाव की
स्थितियाँ है। वेदना-जात ये गीत भी इतने आनन्ददायी

होते हैं, इसी रहस्य मे कविता का सौन्दर्य छिपा है। हमारे जीवन का ध्येय आनन्द है। उसकी प्राप्ति में जितना संतोष-सुख होता है उससे कहीं अधिक उसके अभाव से असंतोष-दुःख होता है। मनुष्य की महत्ता उसकी चेतना है, उसकी शक्ति चेतनता है, और जब दुःख से, वेदना से, अभाव से चेतना कोर तक उद्वेलित हो उठती है तभी जो चेतना मे सर्वोत्तम है उसकी सृष्टि होती है। हम आनन्द का अनुभव उतनी गहराई से नहीं करते: वह चेतना की ऊपरी सतह को स्पन्दित करके ही रह जाता है, परन्तु पीड़ा की टीस अन्त तक पहुँच कर चेतनामय ही हो उठती है। फिर चेतना और पीड़ा में अन्तर नहीं रह जाता। इसीलिए हृदय की ग्रन्थियाँ दुःख में खुलती हैं।

प्रसाद की कविता में वेदना शायद मुख्य गुण नहीं है— इस अर्थ में तो वेदना महादेवी जी की कविता का ही विषय है, परन्तु प्रसाद में भी कविता का जन्म वेदना से ही होता है। अवश्य ही वह उसे छोड़कर बड़ी दूर, कल्पना-लोक के आनन्द में विहार करती है उसमें यदि वास्तविक नहीं तो इन्द्रिय-जगत का काल्पनिक सुख है। उनकी कल्पना में सौन्दर्य प्रेम और यौवन अपनी पूरी मस्ती में अपने निखरे रंग में चित्रित होते हैं। अभाव की वेदना पीछे रह जाती है क्षण भर को ही लेखक और पाठक उस सुख का अनुभव करने लगता है जो उन्हीं के शब्दों में "अतीन्द्रिय जगत की नक्षत्र मालिनी निशा को प्रकाशित करने वाले शरच्चन्द्र की कल्पना करता हुआ भावना

की सीमा को लाँघ जाय।" भावना की सीमा जहाँ पीछे छूट जाय ऐसे मधुर लोक की निराश खोज के पीछे केवल कल्पना का सहारा है—"शून्य गगन में खोजता जैसे चन्द्र निराश" परन्तु कवि के कल्पना-गगन में यह शून्यता, रस-हीनता नहीं है। इस काल्पनिक लोक में एक अनुभूत मादकता है, उन्माद है, वैभव है। वहाँ पर अनन्त प्रेम है, यौवन है, सौन्दर्य है। कैसा अनुभूति-सुख है इस कल्पना में—

"तुम कनक किरण के अन्तराल में,
लुक छिप कर चलते हो क्यों ?
नत मस्तक गर्व वहन करते
यौवन के घन, रस कन ढरते।
हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो,
मौन हुए रहते हो क्यों ?"

यौवन के उन्माद का, उनके असंयत रस-प्रवाह का एक और भी मानस-चित्र है—

'आज इस यौवन के माधवी-कुञ्ज मे कोकिल बोल रहा।
मधु पीकर पागल हुआ करता प्रेमालाप
शिथिल हुआ जाता हृदय जैसे अपने आप
लाज के बन्धन खोल रहा।"

परन्तु यह जीवन-मधु पृथ्वी पर नहीं मिलता। असफल प्रेम अतृप्त यौवन और अप्राप्त सौन्दर्य—इस अभाव से खिन्न होकर भी कवि की उत्कट इच्छा होती है—

"सुधा सीकर से नहला दो
लहरें डूब रही हों रस में,
रह न जायँ वे अपने वन में,
रूप-राशि इस व्यथित हृदय-सागर को बहला दो।"

प्रसाद का गीत संसार प्रकृति के उस पार और नियति की दासता से बहुत दूर एक अलग ही तारिक उद्यान है। बचन में संसार की अवहेलना ही तन्मयता बन जाती है; महादेवी में अपने को उस दुःख की ज्वाला में झुलसाने की ही लगन है; प्रसाद में कल्पना का वह प्रभुत्व है कि वे बार-बार उनके परों पर अपना सारा स्थावर जड़ भार तोल कर एक नई दुनिया में, सुनहले संसार में जा पहुँचते हैं। पृथ्वी का ठोस आकर्षण मनुष्य का नियति-कृत दुःख-भार, उसकी जन्म-जात दुर्बलता से उठी हुई कलुषता का सारा खिंचाव उन्हें बार-बार नीचे की ओर, प्रत्यक्ष की ओर कठोर सत्य की सतह पर ला पछाड़ता है, परन्तु उतनी ही बार मानवता का स्वर्गीय अंश कवि की कल्पना के थिरकते हुए पंख उन्हें उस पार [illegible] संसार में ले जाते हैं। उनकी [illegible] ने वह हलकापन [illegible] वहीं छोड़ कर केवल उसके हृदय की [illegible] अपने साथ ऊपर उड़ा ले जाता है। प्रसाद के गीत [illegible] पर बिखरते हुए छाया चित्र हैं।

प्रसाद के गीत विशेष रूप उनके नाटकों में मिलते हैं। इन्हें

भी इनकी स्थानीय उपयुक्तता ही इनका एकमात्र पार्थिव अंग है, जो इन्हें भावों के घात-प्रतिघात के रंगमंच में सटाए रखता है, जो इन्हें पात्र-विशेष की प्रकृति के बन्धन में बाँध देता है, इन्हें नाटकीय परिस्थिति की परवशता में रहना पड़ता है। परन्तु इन दुर्दमनीय अंशों की उपस्थिति के साथ ही कवि की कल्पना खींच कर, तान कर, रोक कर फिर छोड़े गए तीर की भाँति ऊपर को उठती है। जितना उसके पार्थिव-सम्बन्ध में जोर था उतनी ही प्रतिक्रियात्मक तीव्रता और अन्तूरता से उनकी कल्पना किसी एक अपार्थिव लोक में पहुँचती है। उनकी प्रतिभा का यह नियति का-सा अटल स्वरूप है। उनके किसी नाटक में से किसी संदर्भ से सम्बन्ध रखते हुए गीत को देखो विरहिणी का अतृप्त प्रेम, पगली का मस्त प्रलाप, नर्तकी का व्यावसायिक गान, मातृभूमि का प्यार, भावावेश का उद्गार, हारे हुए की निराशा—सब का आदि भिन्न-भिन्न है, परन्तु सबकी इति उसी क्षेत्र में पहुँच कर होती है, जहाँ मानव की शुद्धता देवोपरि है, जहाँ उसका अधिकार अनियंत्रित है, जहाँ उसकी गति स्वच्छन्द है, जहाँ सुख ही अनुभव का पर्यायवाची है और स्वाधीनता ही जीवन का अर्थ है, जहाँ प्रकृति की रम्यता के पीछे अगम्यता नहीं है, जहाँ की नियति मनुष्य की शत्रु या विरोधक न होकर अनुगामिनी है। उनमें शेली (Shelley) का व्योम-विहार है, कीट्स (Keats) का-सा कल्प विहार है, साथ ही उमर खय्याम का-सा नियति से असन्तोष है।

कोरी कल्पना से ही वह मादकता उत्पन्न नहीं हो सकती जो प्रसाद के गीतों में भरी रहतीहै। अनुभूति, कल्पना-लोक में प्रकृति-सौन्दर्य की व्यापकता लेकर देश, काल, पात्र की सीमित परिधि को प्रकृति की, विश्व-व्यापकता में परिणत करके भी, हमारे अनुभव से परे थी, नहीं बन जाती। कीट्स की कविता में एक प्रकार का इन्द्रिय-सुख-स्पर्श करता-सा मालूम देता है। उसकी कल्पना ग्रीक और लैटिन रोमान्स की दुनिया में पहुँचकर भी मानो उसको अतृप्त अनुभूतियों का भार साथ लिए रहती है। इसी प्रकार प्रसाद की कल्पना में भी इन्द्रिय सुख का स्पन्दन वर्तमान रहता है, फर्क इतना ही है कि वह कीट्स की भाँति दैहिक न होकर कल्पनात्मक है (Sensuousness of Imagination)। जब मालविका (चन्द्रगुप्त) वास्तविक जगत में प्रेम का अवलम्ब नहीं पाती। जब चन्द्रगुप्त का शरीर उसके पास रहना भी अभाव रूप में ही रहता है तब उसकी वेदना चन्द्रगुप्त की शय्या मात्र का सहारा लेकर वह भी अन्तिम रात्रि की विभूति—जैसे सुख का सृजन करती है जो नितान्त कल्पना पर टिका हुआ है परन्तु भावोद्रेक के कारण वह असम्भव नहीं प्रतीत होता। शय्या का स्पर्श उसकी इन्द्रियों को नहीं स्वयं उसकी चेतना को ही स्पन्दित कर देता है—

ओ मेरे जीवन की स्मृति
ओ अन्तर के आतुर अनुराग

पवन पकड़ कर पता बताने
न लौट आया न आय कोई ।"

गीत के अन्त मे प्राय यही असाप्तता बनी रहती है।

इस प्रकार की कल्पना प्रसादजी की काव्य-प्रतिभा की विशेषता है, परन्तु गीत मे इसके अतिरिक्त भी सौन्दर्य और मधुरता सृजन करने का साधन होता है—वह है गीत की गठन। भावोल्लास शब्दो की मधुरता, ध्वनि की सुकुमारता, भाव की स्निग्धता और नूतनता उसकी सिकरले आदि भी उतने ही आवश्यक अंग है जितनी कल्पना। भावोल्लास की गीत मे विशेष आवश्यकता होती है। जब हृदय किसी विशेष भाव से आच्छन्न होता है तब उस भाव का सम्पूर्ण अश बातचीत और क्रिया के द्वारा व्यक्त नहीं हो पाता। बातचीत और क्रिया नाटक की सामग्री है और जो उसके द्वारा पूर्णतया व्यक्त नहीं होता वह गीत की। जो साधारणत नहीं देख पडता, अदर्शनीय और अन्य के अनुमान मे भी आने वाला नहीं है, अर्थात् जो भावयुक्त मनुष्य के हृदय मे उच्छ्वसित है उसी को व्यक्त करना गीत का काम है। प्रसाद के गीतो की यह दूसरी महान् विशेषता है। नाटको मे होने के कारण गीतो का पात्रो से अटूट सम्बन्ध रहता ही है, गीत का सौन्दर्य चरित्र के चित्रपट पर और भी अधिक प्रभावोत्पादक हो उठता है। गीत के प्रधान गुण भवोच्छ्वास को पूर्णता देने मे प्रसाद 'सूर' से अधिक दूर नहीं। पद्मावती (अजातशत्रु) उदयन के तिरस्कार से दु:खी

होकर जब वीणाभी नहीं बजा सकती तब गाने लगती है।—

"मींड मत खिंचे बीन के तार।"

भाव की ग्रन्थि जितनी कोमलता से खोली है, पीड़ा की कसक जितनी तीव्रता से और असमर्थता का दुःख जितनी करुणा से प्रकट किया है वह अद्वितीय है—

"निर्दय अंगुली! अरी ठहर जा
पल भर अनुकम्पा से भर जा
यह मूर्छित मूर्छना आह-सी
निकलेगी निस्सार।"

यहाँ तक कि अन्त तक पहुँचते-पहुँचते पीड़ा अपनी सीमा तक पहुँचकर और ही रूप धारण कर लेती है—

"नृत्य करेगी नग्न विकलता
परदे के उस पार।"

देवसेना जिनका प्रेम-जीवन गीत में ही अनुप्राणित हो सका, जब नाटक के अन्त में अपने निष्फल जीवन पर एक दृष्टि डालती है, जब भविष्य की आशा का त्याग करती है तो इन शब्दों में—"हृदय की कोमल कल्पना 'सो जा' जीवन में जिसकी सम्भावना नहीं, जिसे द्वार पर आए हुए लौटा दिया था 'आज जीवन के भावी सुख आशा और आकांक्षा—सब से मैं विदा लेता हूँ—" से ही उनके अन्तर्द्वन्द्व का अन्त नहीं हो सकता है। वह तो अथाह है डुबाएगा ही, अनन्त है, रहेगा ही। और देवसेना गाने लगती है—

आह ! वेदना मिली विदाई !
मैंने भ्रमवश जीवन संचित,
मधुकरियों की भीख लुटाई।
छलछल थे संध्या के श्रमकण
आँसू से गिरते थे प्रतिक्षण
मेरी यात्रा पर लेती थी, नीरवता अनन्त अँगड़ाई।
श्रमित स्वप्न की मधुमाया में,
गहन विपिन की तरु छाया में।
पथिक उनींदी श्रुति किसने, यह विहाग की तान उठाई।
चढ़कर मेरे जीवन रथ पर,
प्रलय चल रहा अपने पथ पर।
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर, उससे हारी होड़ लगाई।
लौटा लो अपनी यह थाती
मेरी करुणा हा हा खाती
विश्व न संभलेगी यह मुझसे, इससे मन की लाज गँवाई।"

एक के बाद दूसरी पंक्ति देवसेना की असफल प्रेम की हूक को, अपने जीवन की असार्थकता को, जगत में बचा-बचा कर प्रेम के कोमल किसलय को पालने की थकान प्रकट करती है। मानो जीवन शक्ति अब बुझती जा रही है ठण्डी पड़ती जा रही है। यहाँ तक कि अन्त में देवसेना अपने आप का विश्व में समर्पण कर देती है। एक ही भाव की तन्मयता में प्रसाद के पात्र, समय, स्थल गीत और पाठक सभी डूब जाते है, डूबकर मिल जाते हैं।

। अनुभूति की तन्मयता में मालूम होता है कलाओं का स्वरूप भिन्न नहीं रह जाता। चित्रकार कवि बन जाता है, कवि चित्रकार, चित्रों में संगीत बह निकलता है। कल्पना सङ्गीतपूर्ण हो उठती है, शब्द ही तूलिका बन जाते हैं, उनमें ध्वनि फूटी पड़ती है, रङ्ग गाने लगता है। यही कला का अन्तिम स्वरूप है जहाँ सौन्दर्य अंगों में नहीं सशरीर आ विराजता है। मधुरिमा उसका गुण नहीं कलेवर बन जाती है। प्रसादजी की कला का भी यही रूप उनके गीतों में मिलता है। पाठक भूल जाता है—वह कविता पढ़ रहा है या चित्र देख रहा है अथवा संगीत के सम पर ही खड़ा है। उनके गीतों के सम पर 'विश्व सिर हिला देता है', उनके चित्रों के सौन्दर्य पर दृष्टि अचल हो जाती है, उनके काव्य के भाव में मन विभोर हो जाता है। पार्थिवता दूर, बहुत पीछे रह जाती है। कवि पाठक को एक ही उड़ान में अपने लोक में ले जाता है जहाँ कलाएँ मूक होकर एक दूसरे का आलिंगन करती हैं। प्रसाद की यह शान है। इसी शान में उनकी महानता है। सुवासिनी—संगीत सौन्दर्य प्रेम की मूर्ति सुवासिनी—गाने लगती है—

तुम कनक किरण के अन्तराल में
लुक छिप कर चलते हो क्यों।

यह पढ़कर इस पर तूलिका उठाएँ तो कैसे चित्र की कल्पना करेगा? एक तो 'किरण' यों ही सुनहली तिस पर 'कनक किरण'। किरण वैसे ही शून्य में भरी रहती है उसके हल्केपन

के भी 'अन्तराल' में यदि लज्जापूर्ण सौन्दर्य लुक-छिप कर चले तो! भाव की कोमलता, वातावरण का हल्कापन और पवित्रता, मूर्ति की मञ्जुलता मानो एक ही सुनहले रंग-द्वारा आँखों में भर जाती है। समाप्त हो रही रात के समय उषा के आगमन का चित्र एक पनिहारिन की मूर्ति में स्थापित करके मानो आपने कल्पना को शरीर दे दिया है—

"बीती विभावरी जाग री
अम्बर पनघट में डुबो रही
तारा घट उषा नागरी।"

वे डूबते हुए तारे, वह उषा का हल्की-सी लालिमा लिए हुए पवित्र उज्वल रूप जो अनन्त नील गगन के किनारे सिमट-सा खड़ा दीखता है, मानों प्रकृति पनिहारिन, पनघट और घट रूप में सीमित हो गई है। प्रसादजी की यह विशेषता है कि वे प्रकृति की क्रियाओ को मानवीय रूप द्वारा और मानवीय भाव तथा क्रियाओं को कृति-रूप द्वारा प्रकट करके पार्थिव और अपार्थिव दोनो लोकों का सौन्दर्य सजग कर देते हैं। मालविका का अपना अनुराग अन्तिम चरणों में ही सुहावना प्रतीत हुआ और तभी वह उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो गइ। प्रेम इतना सुन्दर! इतना मधुर! उसका मालविका उतना ही सुन्दर कोमल, स्निग्ध, और पवित्र चित्र आँखों में उतारती है।

"ओ मेरी जीवन की स्मृति!
आ अनन्त के आतुर अनुराग

बैठ गुलाबी विजन उषा में
गाते कौन मनोहर राग।"

'अ' की आवृत्ति से संगीत पैदा होता है पर यहाँ तो 'अनुराग' उषा की गुलाबी झलक में स्वयं ही गाने लगता है। प्रसाद कलाकार हैं, वे जानते हैं अनुराग का रंग वैसे भी लाल ही बताया गया है, परन्तु मालविका का अनुराग—वह क्या वैसा रक्तवर्ण लाल था? चन्द्रगुप्त के लिए वह अस्फुट प्रेम क्या इतना उद्दाम था? कहाँ वह तो अपनी कोमलता से ही उठ नहीं पाता था। इसीलिए वह लाल न होकर गुलाबी था, प्रखर सूर्य के समान जलता न होकर उषा की हल्की गुलाबी झलक में गाता था। मालविका के प्राण—उत्सर्ग के कगारे बैठे हुए प्राण—अनुराग बनकर उषा की प्रशान्त गुलाबी झलक में गाते-गाते विभोर हो जाते हैं। इस सौन्दर्य का माप-तोल असम्भव है जहाँ चित्र, काव्य, संगीत एक दूसरे को पहचान नहीं पाते।

गानों की नाटकीय उपयोगिता समय, स्थल, पात्र और विषय के अनुसार उनकी उपयुक्तता भी उनकी कला के अङ्ग हैं। जब ग्रीक राजकुमारी कार्नेलिया भारतभूमि के वैभव और ज्ञान से आश्चर्यान्वित होकर पुलकित होकर उसकी प्रशंसा करती है (समय) जब बाण द्वारा असमर्थ होकर वह वन्दन-स्वरूप गाने लगती है (स्थल) इधर हृदय कार्नेलिया ग्रीस की होने पर भी भारत के महत्व गुणगान से हिचकती नहीं (पात्र) तो

प्रसाद भी अपनी कल्पना के सहारे देश-प्रेम की सुन्दरतम भावना (विषय) को कार्नेलिया के मुख से प्रकट करवाते हैं—

"अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ विभा पर नाच रही तरु-शिखा मनोहर,
छिटका जीवन हरियाली पर मंगल कुंकुम सारा।
लघु सुरधनु से पंख पसारे शीतल मलय समीर सहारे,
उड़ते खग जिस ओर मुँह, किये समझ नीड़ निज प्यारा।
बरसाती आँखों के बादल बनते जहाँ भरे करुणा जल,
लहरें टकरातीं अनन्त की पाकर जहाँ किनारा।"

उस समय के भारतवर्ष का कितना सौम्य प्रशान्त स्निग्ध चित्र है जब भारत सब के आश्रय का नीड़ था। जहाँ अजेय विजयी सिकन्दर भी उसकी उदारता पर मुग्ध हो गया था, जहाँ कार्नेलिया—कवि-हृदय की विभूति—भी वहीं पहुँच गई जहाँ के लिए वह चली थी। वह प्रकृति का भी आश्रय स्थल था। देश-प्रेम की कैसी उदात्त भावना है! नाटकीय उपयोगिता की सार्थकता सम्पूर्ण हो जाती है।

× × × ×

कला! तुम अनन्त सौंदर्यशालिनी हो, हमारी पूजा की सामग्री परिमित! वह निबट चली, भाव का उद्वेग शान्त हो चला परन्तु उपासना अभी अधूरी ही है।

प्रसादजी के उपन्यास

जयशंकरप्रसाद के दो उपन्यास हैं—(१) कंकाल (२) तितली। एक अन्य ऐतिहासिक उपन्यास वे और लिख रहे थे— इरावती। इसका कथानक बौद्धकालीन है। इसे वे कामायनी महाकाव्य के बाद पूरा करना चाहते थे। लेकिन इसी अर्से मे बीमार पड़ गए और यह बीमारी ऐसी लगी कि उन्हे लेकर ही मानी।

मुझे डर है हम प्रसाद-साहित्य को देश, काल और समाज के अन्दर छोटा करके देखने से उसका महत्त्व ठीक-ठीक नहीं आँक सकेंगे। उन्होंने अपनी रचनाओं में विश्व-मानव की प्रतिष्ठा की है। वह अपनी रचनाओं मे समस्त मानव-हृदय का स्पन्दन अंकित करते हैं। यह बात बहुत मनोरञ्जक है कि प्रसाद अपने जीवन मे और साहित्य मे वर्त्तमान से कितना तटस्थ रहे। लेकिन इससे यह न समझा जाय कि उनमे कर्मण्यता का अभाव था। उनमे वर्तमान को सुधारने-सँवारने और संस्कार देने की बेहद कामना थी। अपनी इन भावनाओं

को उन्होंने अपने उपन्यासों में प्रकाश किया है। इन
के जरिये वे वर्त्तमान में उलझे हैं, इसीलिए इस क्षेत्र में
रियलिस्ट हो गए हैं।

प्रसाद का रियलिज्म पश्चिमी लेखकों के रियलि
सर्वथा भिन्न है। उनके रियलिज्म की परिभाषा बहुत
प्रेमचंद के रियलिज्म के करीब है। प्रसाद 'कंकाल'
'तितली' के जरिये वर्त्तमान में उलझे हैं, लेकिन उन्होंने
को एक दम वर्त्तमान में मिला नहीं दिया। उनकी दृष्टि
अनन्त की ओर ही है, क्षण भर के लिए पलकें झुका
की तरफ देख लिया है। कंकाल में भारत-संघ की योजना है
यह भारत-संघ एक नवीन हिन्दू-जाति का संगठन करने वाला
जिसका आदर्श प्राचीन है अर्थात् राम, कृष्ण, बुद्ध की
संस्कृति का प्रचार करना। भारत-संघ श्रेणीवाद,
पवित्रतावाद तथा जातिवाद की उपेक्षा करता है, और
के नाम पर सबों को गले लगाता है। हिन्दुओं का
शासन कठोर हो चला है, क्योंकि दुर्बल स्त्रियों पर ही शक्ति
उपयोग करने की क्षमता उसके पास बच रही है और
अत्याचार प्रत्येक काल और देश के मनुष्यों ने किया है;
की नैसर्गिक कोमल प्रकृति और उनकी रचना इसका कारण है।
भारत-संघ ऋषिवाणी को दुहराता है 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते
रमन्ते तत्र देवता' और कहता है माता की जाति का
आदर करो।

तितली में स्पष्ट-रूप किसी संस्था का निर्माण नहीं है, लेकिन उसके तीनों प्रमुख पात्र—तितली, मधुबन और शैला—बाबा रामनाथ की संस्था की उपज हैं। जमींदार इन्द्रदेव की सहायता से यह लोग ग्राम-संगठन में प्रयत्नशील हैं। इनकी योजना के अनुसार सबसे पहले गाँवों में किसानों का एक बैंक और एक होमियोपैथी का निःशुल्क औषधालय खुलना चाहिए। एक प्रगतिशील पाठशाला भी होनी चाहिए। तीसरे दिन जहाँ गाँव का बाजार लगता है, वहीं एक अच्छा-सा देहाती बाजार हो, जिसमें करघे, कपड़े, बिसातीखाना और आवश्यक चीजें मिल सकें। गृह-शिल्प को भी प्रोत्साहन देने का प्रयत्न किया जाय। किसानों के खेतों के छोटे-छोटे टुकड़े बदल कर उनका एक जगह चक बना दिया जाय जिसमें खेती की सुविधा हो। अन्त में जब धामपुर ग्राम एक कृषि-प्रदर्शिनी बन जाता है तो उसका चित्र इस प्रकार है—

साफ-सुथरी सड़कें, नालों पर पुल, करघों की बहुतायत, फूलों के खेत, तरकारियों की पौध, अच्छे-अच्छे फलों के बाग। दो रात्रि पाठशालाएँ भी खुल गई थीं। कृषकों के लिए कथा के द्वारा शिक्षा का प्रबन्ध हो रहा था। अखाड़े और संगीत-मण्डलियों का भी प्रचार हो रहा था। युवकों में स्वयं-सेवा की भावनाएँ जाग्रत की जा रही थीं।

कंकाल सं० १९८६ में प्रकाशित हुआ था। तितली का कुछ अंश १९८६ में लिखा गया। उस समय विनोदशङ्कर

[illegible] की [illegible] में धार्मिक जागरण निकला रहा था। [illegible] में पढ़ते पढ़ते [illegible] साप्ताहिक रूप में प्रकाशित हुई। जागरण बन्द होने के साथ ही [illegible] भी बन्द हो गई थी। फिर सं० १९६१ में प्रकाशित होने लगी।

[illegible] उतार-चढ़ाव की भाँति समाज और देश के जीवन में भी उत्थान-पतन की लहरें चला करती हैं। उत्थान के [illegible] सामाजिक नियमों, आचारों और आदर्शों की सृष्टि होती है और इस तरह उस समाज के समस्त सदस्यों का व्यक्तित्व और उनकी प्रतिभा विभिन्न मार्गों का अवलम्ब करके एक धार विशेष मे प्रवाहित होने लगती है। दीपक अपनी बत्ती के जरिये अपने भीतर सम्पूर्ण तेल खींच कर अपने प्रकाश को [illegible] एक दिशा-विशेष मे अभिमुख करता है। इसी तरह विभिन्न समाज अपने व्यक्तियो की प्रतिभा को सामाजिक नियमों, आचरणों और आदर्शों के जरिये एक राह में खींच कर अपने भीतर एक सतत् लौ प्रतिष्ठित करते हैं; दीपक के लौ की भाँति यह लौ भी अनन्त के चरणों मे उत्सर्ग।

समय आता है जब यह लौ क्षीण होते-होते काँपने लगती है। सामाजिक कडियाँ बिखर जाती हैं और समाज के विभिन्न व्यक्तियो की विभिन्न चेष्टाएँ, विभिन्न धाराओ मे प्रवाहित होने लगती है। ऐसे समय नए सिलसिले से समाज का निर्माण करके, उसमे दुबारा तेल भरके, फिर से बत्ती जलाने की जरूरत पडती है। जिन लोगो का दिशा-भ्रम हो गया है उन्हें

कारने से काम न चलेगा, बल्कि उनके सहयोग से एक नए टफार्म का निर्माण करना चाहिये। संक्षेप में ऐसी ही भाव-ओं से प्रेरित होकर प्रसाद ने कंकाल और तितली की रचना है।

कंकाल में हमारा ध्यान समाज के उस अङ्ग की ओर ाकृष्ट किया जाता है जो एक बार फिसल जाने के कारण सदा लिए उपेक्षित हो जाता है। हम उन्हें पतित समझ कर नकी ओर से अपनी आँखें हटा लेते हैं। धनाढ्या किशोरी ारज पुत्र की जननी है। तारा विधवा रामा की जारज सन्तान । भीड़ में पिता से विलग होने पर पहले वेश्या के चंगुल में ड़ती है, फिर उद्धार होने के पश्चात, एक पुत्र को जन्म देने के ाद, किशोरी के यहाँ परिचारिका के रूप में रहने लगती है। ण्टी वृन्दावन की कुख्यात बाल-विधवा है। गाला हत्या-्यवसायी बदन-गूजर की लड़की है। उसकी नसों में शाही ून है। [illegible] सम्प्रदाय में भी [illegible] है। समाज ा मान प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए [illegible] 'किशोरी' को अलग खने का प्रबन्ध करता है [illegible] पुष्प की तरह रहने लगते हैं। [illegible] विवाह के दिन [illegible] को छोड़कर भाग जाता है। [illegible] जन बाल्यावस्था में एक महात्मा के [illegible] साधु [illegible] कर दिया गया। वह एक तरफ 'किशोरी' के साथ गृहस्थ बनता है, दूसरी तरफ साधु होने का ढोंग रचता है। '[illegible]

उसका पुत्र है। उन्मत्त जवानी के आवेश में पहले
की तरफ आकृष्ट होता है, फिर घंटी की तरफ, फिर
की तरफ।

जयशंकर प्रसाद हमारी मानव भावनाएँ प्रतिष्ठित
हमें इनके प्रति आकृष्ट करते हैं और हमारी सहानुभूति
हैं। हम बोध करने लगते हैं यह तो हमारे ही भाइ-बन्धु
उनकी दुर्बलता हमारी दुर्बलता है।

× × × ×

उत्तम पात्रों के हृदय की दुर्बलताओं और
को लेकर ही कंकाल की विचित्र घटनाएँ घटित हुई हैं।
के अंत में भारतसंघ की स्थापना होती है। इसी सिलसिले
कई जगह कितने अनमोल वाक्य आए हैं—जिन्हें मन चाहता
हृदय-पटल पर अंकित कर लें। स्थानाभाव के कारण
एक उदाहरण दूँगा। यथा—

यह झूठ है कि किसी विशेष समाज में स्त्रियों को विशेष
सुविधा है। पुरुष यह नहीं जानते कि स्नेहमयी रमणी सुविधा
नहीं चाहती, हृदय चाहती है।

× × × ×

स्त्रियों का एक धर्म है, वह है आघात सहने की क्षमता। वे
जिससे प्रेम करती हैं उसी पर सरबस वार देने को प्रस्तुत हो
जाती हैं, यदि वह भी उसका प्रेमी हो।

× × × ×
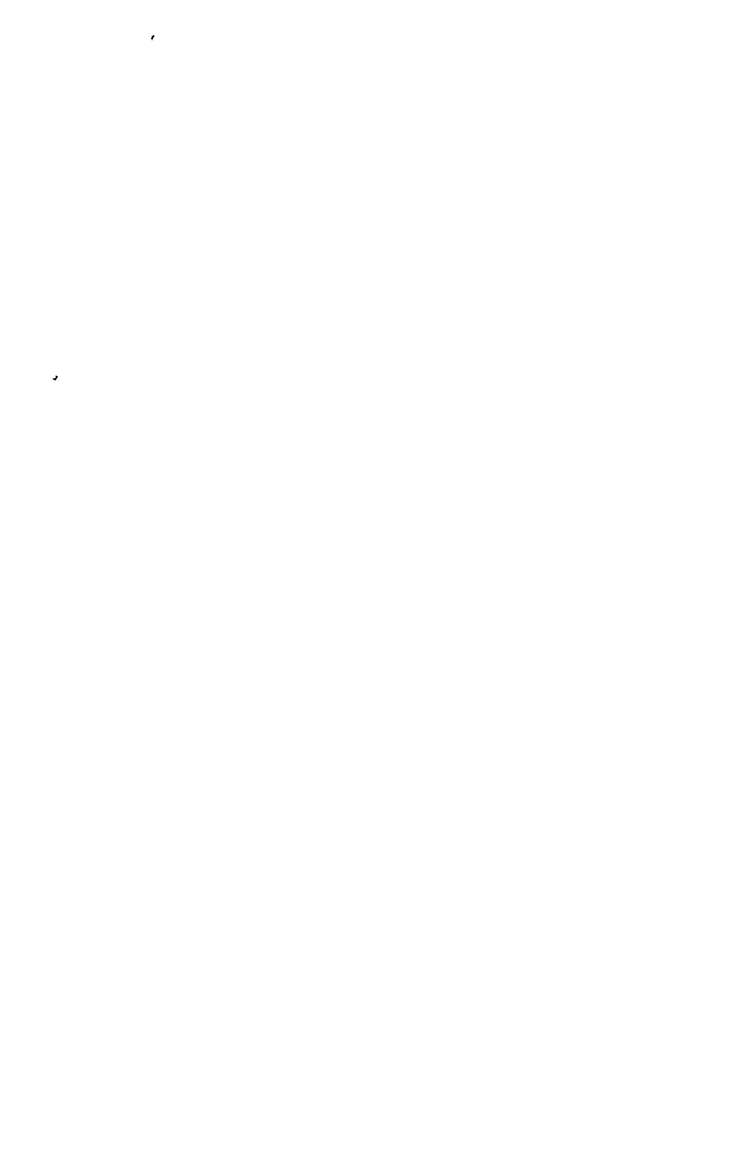
की शारीरिक चेष्टामात्र है। इस तरह पाठक भी उपन्यास घटनाओं को इसी अनुपात से देखता है। प्रसाद के उपन्यासों के चरित्र घटनाओं के सहारे मन पर प्रस्फुटित होते हैं।

प्रसाद एक कुशल नाटक-कार हैं, इसीलिए उन्होंने अपने उपन्यासों में नाटक-तत्व का अच्छा सामञ्जस्य किया है। प्रेम-चन्द अपने पहले के उपन्यासों में पात्रों की मनोवैज्ञानिक स्थिति समझाने के लिए स्वगत कथोपकथन का आश्रय लेते हैं, जो कि बाद के उपन्यासों में उन्होंने भी नाटकीय ढंग का स्वागत किया है। प्रसाद अपने पहले उपन्यास कंकाल में ही सफलता-पूर्वक नाटकीय-तत्व का सम्मिश्रण कर सके हैं। वह थोड़ा-सा वर्णन करते हैं, फिर पात्र स्वयं वार्त्तालाप-द्वारा कथानक को आगे बढ़ाने में समर्थ हो जाता है।

कवि होने के कारण प्रसाद के वर्णन में इतनी तीव्रता आजाती है कि पाठक झूमने लगता है। उदाहरण के लिए—

जूही की क्यारियों में मकरन्द मदिरा पीकर मधुपों की टोलियाँ लड़खड़ा रही थीं और दक्षिण पवन मौलसिरी के फूलों की कौड़ियाँ फेंक रहा था। —कंकाल

घंटी के कपोलों में हँसते समय गड्ढे पड़ जाते थे। भोली मतवाली आँखें गोपियों के छायाचित्र उतारतीं, और उभरती हुई वयस-सन्धि से उसकी चंचलता सदैव छेड़छाड़ करती रहती। वह एक क्षण के लिए स्थिर न रहती—कभी अंगड़ाइयाँ लेती तो कभी अपनी उँगलियाँ चटकाती। आँखें लज्जा

का अभिनय करके जब पलकों की आड़ में छिप जातीं तब भी भौंहें चला करतीं। कंकाल—

शैला ने अपनी भोली आँखों को ऊपर उठाया। सामने से सूर्य की पीली किरणों ने उन्हें धक्का दिया; वे फिर नीचे झुक गईं। —तितली

फिर (शैला ने) अपने होठों को गर्म चाय में डुबो दिया जैसे उन्हें हँसने का दंड मिला हो। —तितली

प्रसाद एक दृश्य को चित्रित करने के लिए किस भाँति शब्द-जाल की रचना करते हैं।

प्रसाद मुख्यतः वार्त्तालाप-द्वारा उपन्यास के कथानक को आगे बढ़ाते हैं, इस तरह स्वभावतः उपन्यासों में एक कमजोरी भी आ जाती है। जिन उपन्यासों में कथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-युक्त वर्णन के साथ प्रस्तुत की जाती है, उनमें वार्त्तालाप का अंश एक विशेषता प्राप्त कर लेता है। मुख्यतः वार्त्तालाप भी मनोवैज्ञानिक गुत्थियों पर ही प्रकाश डालता है और इस तरह उसका एक विशेष आकर्षण रहता है। वह कथानक को अप्रधान-रूप में आगे बढ़ाता है। इसके विपरीत नाटकीय ढंग के उपन्यासों में वार्त्तालाप के कुछ अंश का उपयोग कथानक को आगे बढ़ाने के लिए ही किया जाता है।

टेकनिक के लिहाज से तितली कंकाल से श्रेष्ठ है। कंकाल में विविध घटनाओं की जड़ें पात्रों के हृदय में गहरी नहीं जा सकीं। घटना के पश्चात्, उस घटना के साथ पात्र की

कहानी-लेखक जयशङ्कर प्रसाद

कहा जाता है कि कवि देश, काल और समाज से परे हो
है। वह दार्शनिक-भाव से मानव-हृदय की अन्तरतम वृत्ति
के दर्शन करता और उन्हें समस्त मानव के मानस में प्रतिबि
करता है। सिर्फ मनुष्य ही नहीं; पशु-पक्षी, नदी, पहा
आसमान, समुद्र—संक्षेप में समस्त चर-अचर, जीव-जड़
जगत को वह अपनी इन्हीं भावनाओं से रंगता है और उन्हें
विशेष आकृति प्रदान करता है।

उक्त कथन को हम प्रकार भी कह सकते हैं-ज्ञान विज्ञा
शास्त्र, राजनीति, समाजनीति—उपयोगिता की समस्
बातों के नाते हम अपने को विस्तृत-रूप में नहीं फैला पाते
ज्ञान-विज्ञान की बात सार्वजनिक प्रसाद पा चुकने के ब
अपना महत्त्व खो बैठती हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक ज
लिखा है—ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में हम जैसे जज की कुर्सी
बैठकर और प्रकृति को अभियुक्त के कटघरे में खड़ा कर उ
पेट से गर्द-रत्ती निकाल लेने की व्यवस्था करते हैं। मन

हमारी कामनाएँ निहित हैं। हम उसे संस्कार देना, सम्हालना सुधारना, तोड़न-फोडना चाहते है। लेकिन इसके विपरीत— बीते काल की घटनाओ पर दृष्टिपात करते ही हम मे एक अजीब निष्क्रियता छा जाती है। हमारी कामना वहाँ चुक जाती है। हम बीते काल की घटनाओ पर निष्पक्ष, निर्विकार-भाव से दृष्टिपात करते और उचितानुचित का निर्णय कर, एक अजीब मधुर भावना मे डूब जाते हैं।

जयशंकरप्रसाद ने शायद इसीलिए अपनी अधिकाश कहानियों का रंग-मंच बीते काल की घटनाओ के आधार पर अवलम्बित किया है। कभी हमे बुद्धकालीन सभ्यता का दर्शन कराते है तो कभी मुगल और पठान-कालीन सभ्यता का। उस युग का ज़र्रा-ज़र्रा जैसे उनकी लेखिनी के स्पर्श से जागृत हो जाता है। हम स्वप्नाविष्ट हो जाते हैं। कभी हम भव्य शिल्प कला वाले राजमहलो मे प्रवेश करते हैं तो कभी झोपड़ियों में, जिनकी तृण की झालरे प्रात कालीन सूर्य की किरणो से रंगीन हैं। कभी कोमल चरणो की नूपुर-ध्वनि सुनते है तो कभी क्रोध, काम, मान, वैभव और प्रमाद का नगा नृत्य देखते है। लेकिन हृदय के अन्त तक पहुँचते पहुँचते राग-विराग, मान-अपमान, घृणा-द्वेष, स्वार्थ-अहकार की सभी भावनाएँ पानी के बुलबुले की भाँति विलीन हो जाती है और सब भावो के प्रति एक अजीव करुणा और सहानुभूति शेष बचती है। हम देखते हैं कि मनुष्य थोडी देर के लिए भले ही अपने रूप के ऊपर घमंड

जीविका चलाने वाले—ऐसी Backward Tribes के लिए प्रसाद के हृदय में सहानुभूति है। उनकी कवि-दृष्टि इनमें कोमल भावनाओं को ढूँढ़ निकालती है और इस तरह प्रति हममें आदर उत्पन्न करते हैं।

आँधी की 'लैला' पर किसने आँसू न बहाए होंगे। इन्द्रजाल में 'बेला' और 'गोली' की प्रणय कहानी है।

ऐतिहासिक और सामाजिक कहानियों के अलावा जयशङ्करप्रसाद ने कुछ छायात्मक कहानियाँ भी लिखी हैं। इनमें संकेतों और आभासों-द्वारा उन्होंने हमें भव्य सन्देश दिये हैं। अगर हमारी दृष्टि का विस्तार सिर्फ इतना ही है कि अमुक कहानी के पात्र दुनिया के मनुष्यों से मिलते हैं या नहीं, अथवा अमुक ढंग का वार्त्तालाप क्या संसार के अमुक वर्ग में प्रचलित है, तब मुझे डर है कि ऐसे लोग इन कहानियों का आनन्द न उठा सकेंगे।

कई साल हुए 'विशाल-भारत' में जयशङ्करप्रसाद की एक कहानी 'ज्योतिष्मती' उद्धृत की गई थी। समालोचक महोदय ने अपने पाठकों से उसका तात्पर्य जानना चाहा था।

मैं समझता हूँ कोई भी सावधान पाठक निर्विकार-भाव से प्रसाद की छायात्मक कहानियों का अध्ययन करने पर, इनका आशय भली-भाँति समझ जायगा।

ज्योतिष्मती कहानी का तात्पर्य स्पष्ट है। लेखक की दृ

है कि जिसने कभी चन्द्रशालिनी ज्योतिष्मती रजनी के चारो पहर बिना पलक लगे प्रिय की निश्छल चिन्ता में बिताये हो, वहीं ज्योतिष्मती प्राप्त कर सकता है। दूसरे शब्दों में जिसने कभी बिना प्रत्याशा के प्यार किया हो वही ज्योतिष्मती पर हाथ लगा सकता है। साहसिक के मन में कलुष था, इसलिए उसे ज्योतिष्मती नहीं प्राप्त होती. अर्थात् उसे अपना अभीष्ट सिद्ध नहीं होता।

मेरा विचार है, इस प्रकार की छायात्मक कहानियाँ जयशङ्करप्रसाद की सर्वोत्तम कहानियाँ हैं। इन्हीं तथा ऐतिहासिक कहानियों के आधार पर—शायद विनोदशङ्करलाल ने अपनी 'मधुकरी' में प्रसाद के सम्बन्ध में यह मन्तव्य प्रकाशित किया है—

"आपकी कहानियाँ स्थायी साहित्य की चीज हैं। उन्हें दो सौ वर्ष के बाद पढ़ने पर उतना ही मजा आयेगा जितना आज आता है।"

कामायनी
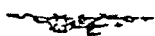
इस महाकाव्य की आलोचना लिखते समय, लेखक कितना दुःख हो रहा है, यह वर्णनातीत है। आज महीनों मैं सोच रहा था कि प्रसादजी की इस अनुपम रचना की आलोचना लिखकर अपनी लेखनी को पवित्र करूँ—पर यह का उस समय हो रहा है जब प्रसादजी की जीवन-लीला समाप्त हो गयी! अस्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि जाते समय प्रसादजी हमारे सामने अपनी प्रतिभा के काव्य-जगत मे एक [illegible] विभूति छोड गये हैं जिस प्रकार स्वर्गीय प्रेमचद जी उपन्यास जगत में, मरने के पहले 'गो-दान' कर गये।

पुस्तक का 'आमुख' भाग—जिसे उसकी भूमिका कहिये—बड़ा ही सुन्दर और रोचक है। कवि ने उसमे स्वीकार किया है कि कल्पना को भी स्थान दिया गया है। कवि के अनुसार, सृष्टि के अन्तकाल मे, प्रलय के अवसर पर, मनु मात्र बच गये। प्रलय मे वे बड़े चिन्तित हो उठे। उनका बना-बनाया खेल बिगड़ गया था। पर उनकी चिन्ता अथवा

उसी की आरम्भिक परीक्षा में परखे गये। पर अन्त में श्रद्धा की जय हुई—श्रद्धा ही जीवन का मूल मन्त्र है। उसने मनु पर भी विजय पाई। अतः श्रद्धा ही इस काव्य की मुख्य पात्रिणी है। अतएव उसी के नाम पर इस ग्रंथ का नाम 'कामायनी' है। श्रद्धा का नाम "कामायनी" वैदिक है। सायण के अनुसार "कामगोत्रता श्रद्धा नामर्पिका"—अत कामायिनी। मनु को आदम और श्रद्धा को 'ईव' कहने में कोई आपत्ति नहीं है। अतएव यह महाकाव्य उन समय का चित्र है जब मनो-भाव-मनोवेग का तराजू आज जैसा न था, जब कि प्राकृतिक सौन्दर्य की सहायता से भी विषय बहलाया नहीं जासकता था जब बीभत्स से सुन्दर निकालना था—अतएव कितना कठिन विषय है और कवि ने उसे लिखने के लिए अपना हृदय किस प्रकार निचोड़ा होगा।

इड़ा-मीमांसा

पर, इसका काफी पृष्ठों वाला आमुख एक तर्क उत्पन्न कर देता है। उससे हमें उत्कंठा होती है कि यह जानें कि यह कथा कवि की कल्पना है, या वैदिक-मन्त्र। वैदिक कथा ये केवल शत-पथ-ब्राह्मण के आधार पर जानी जा सकती है। उसमें इड़ा का परिचय है किन्तु उससे यह प्रकट होता है कि श्रद्धा के साथ मनु ने जो वैदिक हवन किये थे, उसकी हवि से पल-कर तथा उत्पन्न होकर इड़ा ने जन्म लिया था। अत एव उसने अपने परिचय के समय मनु से कहा था—"त्वं दुहिता",

असत्य जरूर है कि इला या इड़ा मनु की पुत्री थी। अतएव प्रसादजी ने आमुख में उसके विषय में जो लिखा है, वह पूर्ण सन्तोषप्रद नहीं। स्यात् उन्होंने विष्णुपुराण की ऊपर लिखी पंक्तियाँ न देखी हों, वरना जिस स्त्री की इतनी छीछालेदर हुई कि लड़की लड़का–लड़की बनती फिरी, उसी को मनु की प्रेरणा न बना देते। पर, यह तो अपना मत है।

अस्तु, कथा का प्रारम्भ प्रलय-काल के अन्त में होता है जब चारों ओर विनाश का साम्राज्य देखकर चिन्तित मनु दुःखी होकर हिमगिरि पर बैठे हैं। कवि ने इस वर्णन में काव्य लालित्य कूट-कूट कर भर दिया है।

धू-धू करता नाच रहा था, अनस्तित्व का तांडव नृत्य।
आकर्षण-विहीन विद्युत्कण, बने भारवाही थे भृत्य॥ पृष्ठ ७

वीभत्स-रस के इस चित्रण के बाद कवि, मनु का दिमाग सुलझाने लगता है। यह दूसरे अध्याय का विषय है। कितना मार्मिक भाव है—

किन्तु जीवन कितना निरुपाय, लिया है देख नहीं सन्देह;
निराशा है जिसका परिणाम, सफलता का वह कल्पित गेह॥
पृष्ठ ५

अब पहला अध्याय, 'चिन्ता', दूसरा 'आशा', तीसरा 'श्रद्धा' है। 'श्रद्धा' के बाद 'काम' उदित हुआ। ७० पृष्ठ पर कवि लिखता है—

वही प्रेम अपराध हो उठा,
जो सब सीमा तोड़ चले॥ २०८

इड़ा के राग के बाद मनु को 'स्वप्न' में अपनी वान्-विकता का पता चला और वे ऊब उठे। घबड़ा गये। उनके मन में भयङ्कर 'संघर्ष' हुआ। अन्त में 'निर्वेद' और उसके बाद परम ज्ञान—"दर्शन" प्राप्त हुआ। यही क्रमागत इस महाकाव्य के अध्याय हैं। कहीं से किसी का चरित्र बिगड़ने—कमजोर नहीं होने पाया है और कवि ने हरेक भाव का बड़ी खूबी से निभाया है। इड़ा के साथ के कारण जब मनु पशु-बलि जोरों में करने लगे तो श्रद्धा ने उन्हें फटकारा—

रचना-मूलक सृष्टि यह, यज्ञ पुरुष का जो है।
सम्सृति सेवा-भाग हमारा, उसे विकसने को है॥

हिंसा के विषय में पृष्ठ १४७ पर, बड़ी भावमय पंक्तियाँ हैं। पर ज्यों-ज्यों कवि का उद्देश्य पूरा होता गया है, उसने दार्शनिक मीमांसा में अपना हृदय और पाण्डित्य दोनों भर दिया है। देखिये—

चेतनता का भौतिक विभाग,
कर जग को बाँट दिया विराग।
चिति का स्वरूप यह नित्य जगत,
वह रूप बदलता है शत-शत॥

कण विरह मिलन मन नित्य निरत,
उल्लासपूर्ण आनन्द सतत।
तल्लीन पूर्ण है एक राग,
झंकृत है केवल जाग-जाग ॥ —२४२

"चेतन समुद्र में जीवन,
लहरों-सा बिखर पड़ा है।
कुछ छाप व्यक्तिगत अपना,
निर्मित आकार खड़ा है ॥ —२८८

अस्तु, प्रसादजी की इस कृति में गाने—समझने लायक कितने पद्य भरे पड़े हैं, यह अपनी रुचि का विषय है। कुछ वाक्य ऐसे हैं जिन्हें हम समझ न सके (छायावाद में कम समझता हूँ) जैसे "व्यथा-गाँठ निज खोलो" इत्यादि। कहीं कुछ छन्द-भङ्ग तथा कर्ण-कटु दोष भी मालूम पड़ता है, जैसे—

मायाविनि बस पा ली तुमने ऐसी छुट्टी
लड़के जैसे खेलों में कर लेते छुट्टी।

अस्तु, हिन्दी का यह नव श्रेष्ठ महाकाव्य स्वर्गीय प्रसादजी की अन्तिम विभूति है—और हम इसके लिए उनके कितने कृतज्ञ हैं?

करुणा-हृदय प्रसाद

सन् १९२६ ई० की बात है, क्वीन्स कालेज के छात्रों ने एक कवि-सम्मेलन का आयोजन किया था—महीना और दिन मुझे याद नहीं। इन पंक्तियों का लेखक भी कविता-देवी के आराधन का सुयोग अवसर देख सम्मेलन में पहुँचा। काशी के समस्त सुप्रसिद्ध साहित्यिक-गण, हरिऔध, लाला भगवानदीन, श्रीकृष्णदेवप्रसाद गौड़ और हमारे प्रसादजी उपस्थित थे। स्वर्गीय लालाजी से ही उस समय तक परिचय था—मैं उनकी तीव्र दृष्टि से अपने को न बचा सका। उनके अधिक आग्रह करने पर मुझे भी कविता पाठ का अवसर हरिऔधजी ने दिया। मैं एक आगन्तुक होने के कारण बहुत क्षुभित हो रहा था। परन्तु गौड़जी और प्रसादजी के प्रोत्साहन से हिम्मत बढ़ी। सभापतिजी का आतच्छा रहना भी समय-पर-समय देख ता। यहीं से मेरे इनके परिचय का श्रीगणेश होता है।

ठीक साल-भर बाद जब मैं काशी फिर गया, प्रसादजी से ने की उत्कट अभिलाषा से बाध्य होकर गौड़जी के साथ

अंत मे भी उनको असह्य था। वहाँ की एक-एक रज उनके चरण चिह्नों से अंकित है, उससे उनका इतिहास लिखा जा सकता है। प्रसादजी को यश-लोलुपता से सच्ची घृणा थी, जिसके उदाहरण प्रत्येक साहित्यिक की जबान पर हैं। यदि जयशंकरजी अपनी कीर्ति बढ़ाने के पीछे घूमते होते तो वह जयशंकर जिनके लिये आज हिन्दी-संसार फूट-फूट कर रो रहा है, इतने सर्व प्रिय न होते। साहित्य से प्रसादजी ने व्यवसाय नहीं किया, वरन् उन्होंने जितनी पुस्तकें लिखीं, प्रकाशकों को मुफ्त दे डालीं। उनके उपन्यास के सीनरियों तक बन गये, फिल्म बन गई—नूरी का अभिनय मैंने स्वयं आगरे में देखा था—मगर प्रसादजी ने अनेक बार हम लोगों के कहने पर भी कोई हस्तक्षेप नहीं किया।

सहृदयता की उनमे पराकाष्ठा थी। किसी को विमुख करना वह जानते ही न थे। दो-एक कवि उनके आश्रित भी रह चुके थे। मगर साथ ही स्वाभिमानता भी उनमे पूरी थी। क्षमाशील होते हुए भी वह अपमान को असह्य समझते थे जिसका परिचय लखनऊ-प्रदर्शिनी कवि-सम्मेलन पर मिला—कितना अचल निर्णय था।

लखनऊ-प्रदर्शिनी के साथ उस समय की गोरी सरकार ने कवि-सम्मेलन का भी आयोजन किया था। पंडित श्यामबिहारी मिश्र के परामर्श से सम्मेलन को सफल बनाने का भार दुलारेलाल भार्गव पर दिया गया था। मै भी कार्यकारिणी का एक सदस्य

मगदल के लड्डू से टिफिन-कैरीयर भरा था। खूब खूब और खिलाया।

प्रसादजी के आने की खबर पाते ही साहित्यिकों का ताँता मेरे मकान पर लग गया। खेद के साथ लिखना पड़ता है कि दुलारेलालजी प्रसादजी से मिलने नहीं आये, न अपनी भूल ही स्वीकार की। और आते भी कैसे उस समय वे एक महाकवि सम्मेलन के महामन्त्री थे। मगर वाह रे! प्रसाद—न जाना था, न गये। कवि-सम्मेलन में प्रसाद के लिये श्रोताओं ने हुल्लड़ मचाया, उपद्रव किये—मगर निर्णय अपनी जगह पर हिमालय की भाँति अचल था। इधर इतना कठिन निर्णय उधर उनके सौजन्य और सहृदयता का हाल सुनिये। कवि-सम्मेलन में प्रसादजी की कविता को न सुन पाने से निराश छात्रों ने उनके आगमन के उपलक्ष मे कान्यकुब्ज कालेज में उनके कविता-पाठ के लिए आयोजन किया। यश-लोलुपता से दूर, कीर्ति से अनिच्छुक प्रसादजी छात्रों के आग्रह को न टाल सके। लाचार कालेज गये। वहाँ उनके स्वागत के लिये, पं० बालकृष्ण पाण्डेय, प० श्रीनारायण चतुर्वेदी तथा अन्य साहित्यिक उपस्थित थे। प्रसादजी की नवीन पुस्तक, हिन्दी-साहित्य को आजीवन जीवित रखने वाली, अमर-कीर्ति "कामायनी" प्रकाशित हो चुकी थी। रुग्णावस्था होते हुये भी प्रसादजी ने एक बड़ा कविता-पाठ किया।

दूसरा ढाल सका है न अब संभव ही है। वे एक जीवन साहित्य के निर्माता थे। प्रसादजी की ब्रजभाषा की कविता में इतना माधुर्य होता था कि सुनते ही कवि की प्रतिभा पर साधुवाद देना पड़ता है। उनकी 'आंसू' शीर्षक कविता की एक पंक्ति मुझे स्मरण है—

"तातो तातो कढ़ि रूखे मन, कौ हरित करै,
एरे मेरे आसू तैं पियूष ते सरस है।
—(प्रसाद)

खेद है कि प्रसादजी का ब्रजभाषा-काव्य लुप्त प्रायः हो चुका है। प्रसादजी के कविता-पाठका ढंग अनूठा था और इतना मनोमुग्धकारी होता था कि उनका कविता-पाठ श्रोता मुग्ध हो कर सुनते थे। उनका वह झूम-झूम कर कविता पाठ क्या किसी को भूल सकता है!

मैं अपने दिवंगत मित्र के लिए क्या लिखूँ जो कुछ लिखूँ थोड़ा है। मित्र के नाते मैं लुट गया। जिस प्रकार श्री रत्नाकरजी के निधन से ब्रजभाषा काव्य का अन्त हो गया, इस प्रकार अब प्रसादजी के उठ जाने से खड़ी बोली की कविता का मध्यान्ह सूर्य अल्प-काल ही में अस्त हो गया। आज हिन्दी भाषा की अवस्था एक विधवा से भी अधिक दयनीय है। चि० रत्नशंकर पर पिता के बिछुड़ने का अपार दुःख पड़ गया है। उनके इस दुःख तथा प्रसादजी की विधवा पत्नी के प्रति मेरी हार्दिक सहानुभूति है। मेरी ईश्वर से प्रार्थना है कि

प्रसाद की विचारधारा

प्रत्येक कवि में एक विशेष मादकता रहती है जो कि उसके हृदय के मधु से उत्पन्न होती है। उसके हृदय की हाला उबल उफन कर काव्य धारा में प्रवाहित होने लगती है और पहले वह उसे मस्त कर दूसरों में मादकता उत्पन्न करती है। प्रसादजी में भी एक मादकता है किन्तु उनकी मादकता में एक गति विधि है. उनके हृदय की हाला का उफान उन्मत्त का सा प्रलाप नहीं है। वह अकाण्ड ताण्डव नहीं है। उसमें गति और लय है। वे कवि हैं उनमें कल्पना है और भाव हैं किन्तु भावना के साथ विचार भी है। उनके काव्य में कामायनी की कथावस्तु की भाँति मन का कामायनी अर्थात् भावना के साथ परिणय है ही किन्तु उसमें सारस्वत प्रदेश वासिनी इड़ा (बुद्धि) का भी सहयोग है। वह श्रद्धाहीन सहयोग नहीं है जिससे कि विनाश और संहार की गति होती है वरन् ज्ञान, कर्म और इच्छा से समन्वित हिमाञ्चल की उच्च भूमि में वास करने वाले

बहुत-सी जगह तो यह भी पता नहीं चलता कि कवि किन भावों को अपनाता है और किन भावों को जनता के वकील की हैसियत से कहता है। तो भी उसके विषय के चुनाव तथा नाटक के अन्त में उसके विचारों का कुछ पता चल जाता है।

सब से पहले हम प्रसादजी के दार्शनिक विचारों को लें। प्रसादजी के काव्य ग्रन्थों के सम्बन्ध में मेरा अध्ययन न विस्तृत ही है और न बहुत गम्भीर है। कवि दर्शन-शास्त्र के अन्तिम तत्त्वों की ओर जा भी नहीं सकता। उसका सम्बन्ध जीवन से है और हम उसके दार्शनिक विचारों को भी जीवन के सम्बन्ध में ही देख सकते हैं। सृष्टि के सम्बन्ध में प्रसादजी अधिक नहीं कहते हैं। मनु भी अपने को एक जलमयी सृष्टि में पाता है। इस सम्बन्ध में कुछ पता चलता है तो यही कि वे उसे सनातन ही मानते हैं और वे अध्यात्मवाद (Idealism) की ओर अधिक झुके हुए हैं। नीचे की पंक्तियों में इस बात का कुछ आभास मिलता है।

> [illegible] अमल,
> [illegible] चपल
> [illegible] है [illegible]।

[illegible]

[illegible] और [illegible]

हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता
कैसे हो ? क्या हो ? इनका तो
भार विचार न सह सकता ।
हे विराट ! हे विश्व देव ! तुम
कुछ हो ऐसा होता भान
मन्द गम्भीर धीर स्वर-संयुत
यही कर रहा सागर गान । (कामायनी)

प्रसादजी दुखवादी अवश्य हैं क्योंकि दुख के अस्तित्व को आशावाद में भुला नहीं सकते किन्तु इनका दुखवाद सुखवाद से विमुक्त नहीं है । संसार में दुख-सुख दोनों का ही अस्तित्व है । यद्यपि सुख क्षणिक है तथापि वह इसलिए उपेक्षणीय नहीं है ।

"अन्धकार का जलधि लाँघ कर
आवेंगी शशि-किरनें,
अन्तरिक्ष छिड़केगा कन-कन
निशि में मधुर तुहिन को ।
इस एकान्त सृजन में कोई
कुछ बाधा मत डालो,
जो कुछ अपने सुन्दर से हैं
दे देने दो इनको ।।"

× × × ×

जब उसकी स्थिति ही ऐसी है तब उसमें निराशा या असन्तोष के लिए कहाँ गुञ्जायश है।

पागल रे! वह मिलता है कब
उसको खो देते ही हैं सब
आँसू के कन-कन से गिन कर
यह विश्व लिए है ऋण उधार
तू क्यों फिर उठता है पुकार?
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

प्रसादजी ईश्वर के सम्बन्ध में अज्ञेयवादी नहीं हैं। उनकी कविता में पूर्ण आस्तिकवाद की झलक है। इतना ही नहीं वे राम कृष्ण आदि के लिए भी बड़े श्रद्धा के भाव रखते हैं। कंकाल में वर्णित भारतसंघ के सम्बन्ध में कहे हुए स्वामी कृष्णशरण के वचनों में उनके धार्मिक विचारों की कुछ झलक मिल सकती है। उन विचारों में धर्म के ढोंग और आडम्बर के लिए स्थान नहीं। वास्तव में मानवता ही उनका धर्म मालूम पड़ता है। राम कृष्ण भी उसी मानवता की मूर्ति होने के कारण उपास्य बने थे। प्रसादजी अपनी कविताओं में तो कुछ द्वैतवाद की ओर झुके मालूम होते हैं, किन्तु नाटकों में अद्वैतवाद की झलक मिलती है—

हम सब में जो खेल कर रहा प्रति सुन्दर परछाईं-सा
आप छिप गया आकर हम में फिर हमको आकार दिया

चार करने का साधन नहीं बनाना चाहते। वे स्वामी कृष्णशरण के मुख से कहलाते हैं—

"वर्ण भेद सामाजिक जीवन का क्रियात्मक विभाग है। यह जनता के कल्याण के लिए बना, परन्तु द्वेष की सृष्टि में, दम्भ का मिथ्या गर्व उत्पन्न करने में, यह अधिक सहायक हुआ है। जिस कल्याण-बुद्धि से इसका आरम्भ हुआ वह न रहा, गुण कर्मानुसार वर्णों की स्थिति नष्ट होकर, आभिजात्य के अभिमान में परिणत हो गई।"

स्त्रियों के अधिकारों के ये पूर्ण पक्षपाती हैं। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' में आप पूर्ण विश्वास रखते मालूम पड़ते हैं। ध्रुवस्वामिनी में नारी-सत्व का बड़ा ओजपूर्ण प्रतिपादन मिलता है। स्त्रियाँ पुरुष की सम्पत्ति नहीं हैं। वे दाम्पत्य सम्बन्ध को सहज में ठुकरा देने की वस्तु नहीं मानते किन्तु यदि पुरुष अपने उत्तरदायित्व को भूल जाय, माँगी हुई शरण न दे, अथवा स्वेच्छाचार करे तो आपत्ति धर्म से स्त्रियाँ अपना पथ निश्चित कर सकती हैं। इसी के साथ साथ वे [illegible]

[illegible]

[illegible]

चार करने का साधन नहीं बनाना चाहते। वे स्वामी कृष्णशरण के मुख से कहलाते हैं—

"वर्ण भेद सामाजिक जीवन का क्रियात्मक विभाग है। यह जनता के कल्याण के लिए बना, परन्तु द्वेष की सृष्टि में, दम्भ का मिथ्या गर्व उत्पन्न करने में, यह अधिक सहायक हुआ है। जिस कल्याण-बुद्धि से इसका आरम्भ हुआ वह न रहा, गुण कर्मानुसार वर्णों की स्थिति नष्ट होकर, अभिजात्य के अभिमान में परिणत हो गई।"

स्त्रियों के अधिकारों के ये पूर्ण पक्षपाती हैं। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' में आप पूर्ण विश्वास रखते मालूम पड़ते हैं। ध्रुवस्वामिनी में नारी-सत्व का बड़ा ओजपूर्ण प्रतिपादन मिलता है। स्त्रियाँ पुरुष की सम्पत्ति नहीं हैं। वे दाम्पत्य सम्बन्ध को सहज में ठुकरा देने की वस्तु नहीं मानते किन्तु यदि पुरुष अपने उत्तरदायित्व को भूल जाय, माँगी हुई शरण न दे, अपना स्वेच्छाचार करें तो आपत्ति धर्म में स्त्रियाँ अपना पथ निश्चित कर सकती हैं। इसी के साथ-साथ वे स्वतन्त्र प्रेम के भी पक्षपाती नहीं मालूम पड़ते।

एक घूँट में स्वतन्त्र प्रेम के प्रचारक आनन्दजी शर्बत का एक घूँट पीकर विवाह के बन्धन में बँध जाते हैं।

प्रसादजी पारिवारिक जीवन में सब से हिल मिल कर रहने और सम्मिलित परिवार के पोषक प्रतीत होते हैं। वे

आह प्रजापति यह न हुआ है कभी न होगा,
निर्वाचित अधिकार आज तक किसने भोगा
× × × ×
लोक सुखी हो आश्रय ले यदि उस छाया में
प्राण सदृश तो रमो राष्ट्र की इस काया में
ताल-ताल पर चलो नहीं लय छूटे जिसमें,
तुम न विवादी स्वर छेड़ो अनजाने इसमें।

कामना के भरतवाक्य में उन्होंने बतलाया है कि राजा को प्रजा से मिलकर रहना चाहिए।

प्रसादजी की रचनाओं में स्थल-स्थल पर सुन्दर विचार भरे पड़े हैं। वे आज कल के यन्त्रवाद के भी विरुद्ध मालूम होते हैं—

प्रकृत शक्ति तुमने यंत्रो से सब की छीनी
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।

विस्तार-भय से लेख को यहीं समाप्त करना पडता है। जीवन के लिए वे इच्छा क्रिया और ज्ञान का समन्वय चाहते है जिससे श्रद्धा के साथ मन रह सके—

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो,
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे;
दिव्य अनाहत पर निनाद मे
श्रद्धा युत मनु बस तन्मय थे।

साहित्य-देवता प्रसाद !

सन् १९३७ का साल हिन्दी-साहित्य के लिए दिवालिया वर्ष है। उसका प्रेमचन्द जैसा धनी 'कायाकल्प' करते-करते 'गोदान' देकर 'कफन' ओढ़कर कर्बला में जा बसा। रामदास गौड़ की भी किसी 'हरसूब्रह्म' ने नहीं सुनी, वह 'विज्ञान' को हाथ में 'आँवले' की तरह देखता हुआ अन्तर्धान हो गया और डा० जायसवाल हिन्दी के उस ईश्वरीय 'प्रसाद' को भी अनुसन्धान-कार्य के लिए साथ लिवा ले गए, जिसकी खोज में आज समस्त हिन्दी-भाषी-संसार आँखों को खार जल से धो-धोकर विवशता की बूँदें बहा रहा है। दोनों ही इतिहास का अनुशीलन करते करते इतिहास का विषय बन गये। 'प्रसाद' की प्रासादिक प्रतिभा आज किसमें पा सकते हैं? उनके उठ जाने से तो हिन्दी वास्तव में निर्धन हो गई है। ऐसी सर्वतोमुखी प्रतिभा वाला गम्भीर विद्वान 'युग-पुरुष' ही था। उनका इतिहास काव्य नाटक और कहानी के क्षेत्र में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व लिए हुए अमर रहेगा।

कलकत्ता कांग्रेस के समय में १ मास पूर्व बनारस चला गया था, उस समय मुझे उनके पुनीत दर्शन, और लगातार २० रोज तक घण्टों साहित्यिक-गोष्ठी का सहयोग लाभ प्राप्त हुआ था, मैं उस स्मृति को कभी भुला नहीं सकूँगा। कितने मधुर क्षण बीतें हैं—मैं जीवन में उन दिनों को बहुत-बहुत महत्व के समझता हूँ। जबसे उनकी बीमारी का हाल सुना, और भाई 'नवीन' जी का 'प्रताप' में लेख पढ़ा, तब से दिल में एक अज्ञात आशंका ने घर कर लिया था, न जाने क्यों घबराहट-सी दिल में पैदा हो गई थी कि मानो वह हृष्ट-पुष्ट, गंभीर, स्मित वदन मूर्ति, धीरे-धीरे हम से अलग होती जा रही है। दर्शन के अवसर पर श्री 'प्रसाद' जी ने मुझे अपनी पत्रिका बतलाई थी, उसकी एक कॉपी मेरे पास थी, मैंने उसका विस्तृत गणित किया, और जितनी मेरी दृष्टि हो सकती थी, विचार किया। भाई नवीन जी और राय कृष्णदासजी के पास मैंने उनका पूरा—सर्वथा वैज्ञानिक विवरण भेज कर सावधानी की सूचना दी। उनके शरीर में किस धातु की कमी हो गई है, किस स्नायु की निर्बलता इस भयानक विकार को उत्पन्न करने में कारण हो गई है और किस प्रकार के उपचार से उनको लाभ मिल सकता है, तथा कब-कब यह स्थिति भयानक रूप धारण कर सकती है। किन्तु रायसाहब ने उन सूचनाओं पर ध्यान दिया या नहीं, पता नहीं, क्योंकि दो-तीन पत्रों के उत्तर नहीं मिले। वर्ना वैद्य या डाक्टरों को भी यदि ज्ञात हो जाय कि

प्रसादजी की कविता
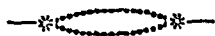
कुछ दिनो के बाद रीतिकाल की विरोध-भावना भी रीति-ग्रस्त होगई। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार रीति-काल के कविन्द नायक, नायिका, रति, अभिसार, सापत्य आदि के घेरे में चक्कर लगाते रहते थे उसी प्रकार उनके विरोधी 'कवि-रत्न' भी देशभक्ति, जाति-सुधार, महाराणा-प्रताप आदि की स्तोत्र-रचना और उसके पाठ में मग्न रहे। हृदय का साहचर्य्य न होने के कारण उनकी देशभक्ति निष्प्राण थी। उसमें कवित्व नहीं था, उधर समय के प्रभाव-स्वरूप इन लोगो को सौन्दर्य से, एक प्रकार से, घृणा होगई थी। किसी प्रकार के भी सौन्दर्य, विशेषकर नारी-सौन्दर्य का सृजन, अश्लीलता समझी जाती थी। यह वह समय था जब हिन्दी के काव्यक्षेत्र पर कविराज पं० नाथूराम शंकर और साहित्याचार्य 'द्विवेदी' जी का एकछत्र साम्राज्य था—जब छायावाद अन्धकार के गहन स्तरों मे पड़ा हुआ स्वप्न देख रहा था। इन दिनों आज से बहुत पहिले, जब छायावाद के देवदूत—पन्त और निराला-

विद्यालयों मे 'कागजी कुसुम' और 'सिगरेट के धुआँ' मे खेला करते थे। एक मनस्वी कलाकार अपनी रंगीन अद्भुत-प्रिय कल्पना और सौन्दर्य-विभोर स्वस्थ भावुकता की डोरियों मे इस युग का ताना-बाना बुन रहा था। यह कलाकार और कोई नहीं हमारे प्रसादजी ही थे जिनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा ने आज हिन्दी की प्रत्येक दिशा मे दीपक-सा जला दिया है।

कविवर प्रसाद कवि, कहानी लेखक, नाटककार, उपन्यास प्रणेता सभी कुछ थे और सबसे पहिले थे कवि। उनकी कहानियाँ कटी-छटी आख्यानमयी कविता ही तो हैं, उनके नाटक और उपन्यास भी कवित्व से परिपूर्ण हैं, परन्तु यहाँ हमें उनका विवेचन नहीं करना। यहाँ तो हमे उनके उसी साहित्यांश पर विचार करना है जो औरों से, कार्लायल के शब्दों मे, उसी पुराने गँवारू भेद (Old Vulgar distinction) छन्द के कारण विभिन्न है। प्रसादजी ने अपने छोटे-से जीवन-काल में हिन्दी के काव्य-क्षेत्र को अमूल्य निधियों से आपूर्ण कर दिया। उनकी सात कविता-पुस्तके प्रकाशित हुई है। १—महाराणा का महत्त्व, २—प्रेम-पथिक, ३—करुणालय, ४—झरना, ५—आँसू, ६—लहर, ७—कामायनी। इनके अतिरिक्त उनके सभी नाटकों मे अनको रसीले गान भरे पडे हैं। प्रसाद का अकेला काव्य-साहित्य एक परिमाण की दृष्टि से भी किसी से कम नहीं।

प्रसादजी की कविता का क्षेत्र

जिस किसी ने प्रसादजी की कविता को एक बार भी पढ़ा होगा वह तुरन्त कह देगा कि उनकी कविता का मुख्य विषय प्रेम है। उनकी भावुकता ने अधिकतर प्रेम की परिधि में ही भांवरियां ली हैं। वे संसार को प्रेममय मानते हैं—उनकी धारणा है कि—

मानव जीवन वेदी पर,
परिणय है विरह मिलन का
सुख-दुख दोनो नाचेंगे
है खेल आँख का मन का।

प्रेम के प्रसादजी ने सभी अंगो को स्पर्श किया है—उनका प्रेम न तो केवल अतीन्द्रिय एवं आध्यात्मिक प्रेम ही है और न इन्द्रिय-लिप्सा ही। उन्होंने ऐन्द्रिय प्रेम का वहिष्कार नहीं किया। स्वस्थ ऐन्द्रिय प्रम एक प्राकृतिक आवश्यकता है जिसका हमारे भावुक कवि ने उचित रीति से समादर किया है। उनके चित्रों में, उनके भाव जगत मे ऐन्द्रियता का काफी मान है। वे 'आँख के खेल' को भी उतना ही अनिवार्य समझते है जितना 'मन के खेल को'। प्रसादजी को इस बात का अनुभव है कि जीवन मे एक ऐसा समय आता है जब मनुष्य उन्मत्त होकर किसी को आत्म समर्पण करने के लिए आतुर हो उठता है और उसे यह सोचने का समय भी नहीं मिलता कि हृदय किसको देना है, उस समय तो—

प्रथम यौवन मदिरा में मत्त, प्रेम करने की थी परवाह
और किसको देना है हृदय, चीन्हने की थी तनिक न चाह!

ध्रुवस्वामिनी के शब्दों में 'अकस्मात जीवन-कानन में एक राका रजनी की छाया में छिपकर मधुर वसन्त घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी-भरी हो जाती हैं। सौन्दर्य का कोकिल 'कौन' कह कर उसको रोकने-टोकने लगता है, पुकारने लगता है। × × × फिर उसी में प्रेम का मुकुल लग जाता है, आँसू भरी स्मृतियाँ मकरन्द-सी उसमें छिपी रहती हैं।

यह प्रेम-रूप आसक्ति है—आँख का खेल है। वृद्ध जग इसे कुछ भी कहे परन्तु युवक-जीवन में इसका एक विशेष महत्त्व है—

देखकर जिसे एक ही बार, हो गए हैं हम भी अनुरक्त
देख लो तुम भी यदि निज रूप, तुम्हीं हो जाओगे आसक्त।

यह रूप-आकर्षण विश्व भर में—समस्त जड़-चेतन में व्याप्त है। प्रसादजी कहते हैं कि संसार में यही एक मात्र परिचय का कारण है।

उषा का प्राची में आभास
सरोरुह का सर बीच विकास
कौन परिचय था क्या सम्बन्ध
गगन-मंडल में अरुण-विलास!

देखिए हमारे आदि पुरुष मनु की श्रद्धा का रूप-सौन्दर्य पान कर क्या दशा हुई थी। श्रद्धा की रूप-ज्वाला कैसी थी—

'नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ बन बीच गुलाबी रंग।

× × ×

या कि नव इन्द्रनील लघु शृंग
फोड़कर धधक रही हो कांत,
एक लघु ज्वालामुखी अचेत,
माधवी रजनी में अश्रांत।

इसे देख कर तपस्वी मनु का मन एक साथ विचलित हो जाता है और वे कह उठते हैं—

कौन हो तुम वसन्त के दूत
विरस पतझड़ में अति सुकुमार!
घन-तिमिर में चपला की रेख
तपन में शीतल मंद बयार।
नखत की आशा किरण समान,
हृदय के कोमल कवि की कांत
कल्पना की लघु लहरी दिव्य
कर रही मानस हलचल शान्त।

आगे वे ही मनु मनुहार करते हैं—

कुचल उठा आनन्द, यही लज्जा है
बाधा दूर हटाओ

इसके अतिरिक्त एकाध स्थान पर फारसी-काव्य का अस्वस्थ प्रभाव भी खटकता है। यथा—

'छिल-छिल कर छाले फोड़े'

किन्तु ऐसा उदाहरण उनकी प्रारम्भिक कृतियों में ही एकाध मिल जाता है।

इस रूप-मोह के अतिरिक्त 'मन के खेल' की भी व्यञ्जना बड़ी ही मधुर और मादक हुई है। एक प्रकार से यही रूप-मोह धीरे-धीरे मन की वस्तु हो जाता है—और प्रेमी प्रेम-पात्र के रूप का नहीं उसके व्यक्तित्व का पुजारी हो जाता है—इस प्रेम में ऐन्द्रियता नहीं होती—यह भावना-प्रधान (Ideal) प्रेम होता है। उर्मिला के शब्दों में—

'पहिले आँखों में थे, मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे'।

—साकेत

इस प्रेम में प्रेमी अपने अस्तित्व को प्रेम-पात्र के अस्तित्व में मिला देता है—उसे अपनी कोई आकांक्षा नहीं रहती। वह तो बस यही 'अनुनय' रहता है कि—

क्रोध से, विषाद से, दया से, पूर्व प्रीति से ही
किसी भी बहाने से तो याद किया कीजिए। 'झरना'

इस समय दशा बड़ा विचित्र होती है

'वाणी मस्त हुई अपने में उससे कुछ न कहा जाता
गद्गद् कण्ठ स्वयं सुनता है, जो कुछ है वह कह जाता।'

और प्रेमी आत्म-विस्मृत पूछ उठता है—

"जीवन-धन ! यह आज हुआ क्या, बतलाओ मत मौन रहो।
बाह्य वियोग, मिलन या मन का, इसका कारण कौन कहो॥"

यही प्रेम बढ़ते-बढ़ते आवेगपूर्ण हो जाता है और प्रेमी एक साथ चीत्कार कर उठता है—

चमकूँगा धूलि-कणों में
सौरभ हो उड़ जाऊँगा,
पाऊँगा कहीं तुम्हें तो
ग्रह-पथ में टकराऊँगा !

परन्तु इस प्रेम में आत्म-निषेध की भावना सदैव रहती है—कभी-कभी प्रेमी अपनी असफलताओं को भी सफलता समझ लेता है और प्रेम-पात्र की करुणा में ही अपूर्व आह्लाद को अनुभव कर निकलता है—

औरों के प्रति प्रेम तुम्हारा, इसका मुझको दुःख नहीं
जिसके तुम हो एक सहारा, वही न भूला जाय कहीं।
निर्दय होकर अपने प्रति, अपने को तुमको सौंप दिया
प्रेम नहीं करुणा करने को, क्षण भर तुमने समय दिया।

आगे चल कर यह प्रेम लोक-सीमा छोड़ कर अलौकिक—दिव्य हो जाता है। यह प्रसादजी का उद्देश्य प्रारम्भ में ही था—

'इस पथ का उद्देश्य नहीं है, श्रान्त-भवन मे टिक रहना,
किन्तु पहुँचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं!!'

उनके इस दिव्य-प्रेम के विषय मे समालोचकों की दो सम्म-

तियाँ हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि प्रसादजी अदृष्ट से दृष्ट की ओर आए और दूसरों की धारणा है कि वे ज्ञात से अज्ञात की ओर गए। वास्तव में कवि ने राम-कृष्ण आदि की भक्ति-विषयक रचनायें भी की थीं परन्तु प्राधान्य उनमें रहस्यात्मक-भावनाओं का ही रहा; उनकी वृत्ति अज्ञात में ही अधिक रमी।

देखिए कवि को उस प्रियतम की झाँकी पहिली वार किस प्रकार से हुई।

शशि-मुख पर घूंघट डाले
अञ्चल में दीप छिपाए
जीवन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आए।

इसी प्रकार एक वार आंख खोल देखो तो चन्द्रालोक से

रञ्जित कोमल वादल नभ में छागए
जिस पर पवन सहारे तुम हो आ रहे।

धीरे धीरे यह नशा इतना व्यापक होजाता है कि कवि को संसार में सर्वत्र ही उस अपूर्व रूप के दर्शन होने लगते हैं—

जल-थल मारुत व्योम में छाया है सब ओर
खोज-खोज कर खोगई मैं पागल प्रेम-विभोर।

कवि वार-वार समझने का प्रयत्न करता है, आखिर यह सब वैभव किसका है—

"महानील इस परम व्योम में
अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान

ग्रह नक्षत्र और विद्युत कण
किसका करते-से संधान !

× × × ×

छिप जाते हैं और निकलते
आकर्षण में खिंचे हुए

× × × ×

सिर नीचाकर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहाँ
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका वह अस्तित्व कहाँ ?

परन्तु अंत में वह यही कह कर चुप रह जाता है।

'हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता
कैसे हो, क्या हो, इसका तो
भार विचार न सह सकता।
हे विराट हे विश्वदेव तुम
कुछ हो ऐसा होता भान'"

एक समय था जब आत्मा और परमात्मा सम्बद्ध थे—एकाकार थे। अब दोनों पृथक हैं परन्तु आत्मा को उस महा-मिलन का पूर्ण ज्ञान है—वह कहता है—

यह सब स्फुलिंग हैं मेरी
उस ज्वालामयी जलन के

धरणी दुख माग रही थी
आकाश छीनता सुख को
अपने को देकर उनको
मैं देख रहा उस मुख को।

परन्तु यह वेदना प्रेम की मीठी वेदना है, निराशा क कठोर यंत्रणा नहीं। घोर मानसिक व्यथा सहने पर भ कवि आश्वासन देता है—

'पड़ रहे पावन प्रेम फुहार, जलन कुछ कुछ है मीठी पी
सम्हाले चल कितनी है दूर, प्रलय तक व्याकुल हो न अधीर

क्योंकि उसे पूर्ण आशा है कि—

'चेतना लहर न उठेगी
जीवन समुद्र थिर होगा,
सन्ध्या हो सर्ग प्रलय की
विच्छेद मिलन फिर होगा।

और इसीलिए वे प्रेम की मङ्गलकरी शक्ति में विश्वास करत हुए कहते हैं कि—

घने प्रेम तरु तले
बैठ छाँह लो भव-आतप से तापित और जले।
छाया है विश्राम की, श्रद्धा सरिता कूल।
सिंची आँसुओं से मृदुल है परागमय धूल!

प्रसादजी और प्रकृति

आरम्भ में यही प्रेम-तत्व प्रसादजी को प्रकृति की ओर

उषा सुनहले तीर बरसती, जयलक्ष्मी-सी उदित हुई;
उधर पराजित काल-रात्रि भी, जल मे अतर्निहित हुई!
वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का, आज लगा हँसने फिर से;
वर्षा बीती, हुआ सृष्टि मे शरद-विकास नया सिर मे।
नव कोमल आलोक बिखरता, हिम संसृति पर भर अनुराग!
सित सरोज पर क्रीड़ा करता, जैसे मधुमय पिंग-पराग!!

× × × ×

नेत्र निमीलन करती मानो, प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने।
जलधि-लहरियों की अँगड़ाई, बार-बार जाती सोने!!
सिंधु-सेज पर धरा-वधू अब, तनिक संकुचित बैठी-सी;
प्रलय-निशा की हलचल-स्मृति में, मान किए सी ऐंठी-सी!

काम के प्रभाव से मानव-जगत ही नहीं प्राकृतिक जगत भी आकुलित हो उठता है। कवि कहता है—

जब लीला से तुम सीख रहे
कोरक कोने मे लुक रहना
तब शिथिल सुरभि से धरणी मे
बिछलन न हुई थी? सच कहना!!

अथवा

भुज-लता पडी सरिताओ की
शैलो के गले सनाथ हुए
जलनिधि का अञ्चल व्यजन बना
धरणी का, दो-दो साथ हुए।

उषा सुनहले तीर बरसती, जयलक्ष्मी-सी उदित हुई,
उधर पराजित काल-रात्रि भी, जल मे अंतर्निहित हुई!
वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का, आज लगा हँसने फिर से;
वर्षा बीती, हुआ सृष्टि में शरद-विकास नया सिर से।
नव कोमल आलोक बिखरता, हिम संसृति पर भर अनुराग!
सित सरोज पर क्रीड़ा करता, जैसे मधुमय पिंग-पराग!!

× × × ×

नेत्र निमीलन करती मानो, प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने।
जलधि-लहरियों की अँगड़ाई, बार-बार जाती सोने!!
सिंधु-सेज पर धरा-वधू अब, तनिक संकुचित बैठी-सी;
प्रलय-निशा की हलचल-स्मृति में, मान किए सी ऐंठी-सी!

काम के प्रभाव से मानव-जगत ही नहीं प्राकृतिक जगत भी आकुलित हो उठता है। कवि कहता है—

जब लीला मे तुम सीख रहे
कोरक कोने में लुक रहना
तब शिथिल सुरभि से धरणी में
बिछलन न हुई थी? सच कहना!!

अथवा।

भुज-लता पड़ी सरिताओं की
शैलों के गले सनाथ हुए
जलनिधि का अञ्चल व्यजन बना
धरणी का, दो-दो साथ हुए।

ज्यों विराट वाड़व-ज्वालाएँ
खंड-खंड हो रोती थीं।

प्रसादजी की रहस्य-भावना कभी-कभी प्रकृति में प्रियतम का प्रतिविम्ब भी देखकर मग्न हो जाया करती है। उसे अनुभव होता है।

'छायानट छवि-परदे में
सम्मोहन वीन बजाता
सन्ध्या-कुहुकिन-अञ्चल में
कौतुक अपना कर जाता!

सारांश यह है कि प्रसादजी ने "प्राकृतिक वस्तु का प्रेम तत्व से सम्मिश्रण करके, प्रकृति पुरुष का संयोग का मंथन कराया है और प्रकृति की विस्तृत विभिन्नता को प्रेम-तत्व से सन्निहित करके देखा है। उनके प्रारम्भिक प्रकृति चित्र सांकेतिक अधिक होते थे। अतः उनका तो इतना महत्व नहीं परन्तु जहां इन दोनो का (प्राकृतिक वस्तु और प्रेम तत्व का उचित सामञ्जस्य हुआ है वहाँ प्रसादजी का काव्य अत्यन्त मानवीय और उन्नत हो उठा है।"

कवि ने प्रकृति का साधारण रूप में कभी वर्णन नहीं किया है—उनका हृदय सदैव उसे मानवी भावनाओं से आकुलित अनुभव करता रहा है। हाँ, प्रकृति का आपने अपनी अलंकार सामग्री के लिए उपयोग सदैव किया है प्रकृति प्रसादजी के अलंकार उपकरणों की अक्षय-निधि है। "पुष्पों की पंखड़ियों के

अखिल विश्व के कोलाहल से, दूर सुदूर निभृत निर्जन में।
गोधूली के मलिनाञ्चल मे, कौन जंगली बैठा वन मे॥

वही प्रेमतत्व जीवन के कठोर आघातो से विरक्ति का भाव धारण करता गया और कवि 'शून्य हृदय मे प्रेम-जलद-माला कब फिर घिर आवेगी' कहता कहता एक साथ पुकार उठा 'सकल कामना स्रोत लीन हो पूर्ण विरति कब पावेगी।' यह विरक्ति की भावना कवि के आशावाद मे किसी प्रकार का असामञ्जस्य उत्पन्न नहीं करती। ऐसे क्षण मनुष्य के जीवन में सदैव आया करते है जब वह बिम्बसार की भाँति सोच उठता है--

चञ्चल सूर्य, चन्द्र है चञ्चल,
चपल सभी ग्रह तारा हैं।
चञ्चल अनिल, अनल जल थल सब,
चञ्चल जैसे पारा हैं।
जगत-प्रगति से, अपने चञ्चल
मन की चञ्चल लीला है।
प्रतिक्षण प्रकृति चञ्चला जैसी
यह परिवर्तनशीला है।

× × × ×

क्षणिक सुखो को स्थायी कहना,
दुःख मूल यह भूल महा।

चञ्चल मानव क्यो भूला तू
इस सीठी में सार कहाँ ?

वास्तव में वैराग्य ही जीवन की चरम परिगति है--परन्तु
निषेधात्मक (Negative) वैराग्य नहीं, साधनात्मक वैराग्य
जिसका दूसरा नाम विश्वप्रेम और मूलमन्त्र करुणा है। करुणा
का चमत्कार प्रसादजी के शब्दो मे ही सुनिये—

'गोधूली के रागपटल में स्नेहाञ्चल फहराती है।
स्निग्ध उषा के शुभ्र गगन मे हास विलास दिखाती है॥
मुग्ध मधुर बालक के मुख पर चन्द्रकान्ति बरसाती है।
निर्निमेष ताराओं से वह ओस-बूँद भर लाती है॥
निष्ठुर आदि सृष्टि पशुओ की विजित हुई इस करुणा से।
मानव का महत्व जगती पर फैला अरुणा करुणा से॥

यही जहाँ तक मैं समझ सका हूँ प्रसादजी के दर्शन का
सारतत्व है और उन्हे यह करुणा और विश्व-प्रेम की भावना
कदाचित् बौद्ध-दर्शन के मनन से प्राप्त हुई है। मैंने अभी संकेत
किया कि प्रसादजी दार्शनिक कवि हैं। यह इसीलिए नहीं कि
उनका अपना एक दर्शन विशेष है। परन्तु इसलिए कि
वे विचार प्रधान कवि हैं। जीवन के गहनतम विचार
उनकी रचनाओ में स्थान-स्थान पर गुम्फित रहते है
उनकी कामायनी मे तो इसका परम विकास मिलता है
वास्तव मे महाकवियो की गौरव-कसौटी उनकी भाषा उनक
अलंकरण-सामग्री, और उनकी कोरा भावुकता नहीं वर

अखिल विश्व के कोलाहल मे, दूर सुदूर निभृत निर्जन में।
गोधूली के मलिनाञ्चल मे, कौन जंगली वैठा वन में॥

वही प्रेमतत्व जीवन के कठोर आघातों से विरक्ति का भाव धारण करता गया और कवि 'शून्य हृदय में प्रेम-जलद-माला कब फिर घिर आवेगी' कहता कहता एक साथ पुकार उठा 'सकल कामना स्रोत लीन हो पूर्ण विरति कब पावेगी।' यह विरक्ति की भावना कवि के आशावाद में किसी प्रकार का असामञ्जस्य उत्पन्न नहीं करती। ऐसे क्षण मनुष्य के जीवन में सदैव आया करते है जब वह बिम्बसार की भाँति सोच उठता है--

चञ्चल सूर्य, चन्द्र है चञ्चल,
चपल सभी ग्रह तारा हैं।
चञ्चल अनिल, अनल जल थल सब,
चञ्चल जैसे पारा हैं।
जगत-प्रगति से, अपने चञ्चल
मन की चञ्चल लीला है।
प्रतिक्षण प्रकृति चञ्चला जैसी
यह परिवर्तनशीला है।

× × × ×

क्षणिक सुखो को स्थायी कहना,
दुःख मूल यह भूल महा।

चञ्चल मानव क्यों भूला तू
इन सीठी में सार कहाँ ?

वास्तव में वैराग्य ही जीवन की चरम परिणति है--परन्तु निषेधात्मक (Negative) वैराग्य नहीं, साधनात्मक वैराग्य जिसका दूसरा नाम विश्वप्रेम और मूलमन्त्र करुणा है। करुणा का चमत्कार प्रसादजी के शब्दों मे ही सुनिये—

'गोधूली के रागपटल में स्नेहाञ्चल फहराती है।
स्निग्ध उषा के शुभ्र गगन मे हास विलास दिखाती है॥
मुग्ध मधुर बालक के मुख पर चन्द्रकान्ति बरसाती है।
निर्निमेष ताराओं से वह ओस-बूँद भर लाती है॥
निष्ठुर आदि सृष्टि पशुओं की विजित हुई इस करुणा से।
मानव का महत्व जगती पर फैला अरुणा करुणा से॥

यही जहाँ तक मैं समझ सका हूँ प्रसादजी के दर्शन का सारतत्व है और उन्हे यह करुणा और विश्व-प्रेम की भावना कदाचित् बौद्ध-दर्शन के मनन से प्राप्त हुई है। मैंने अभी सकेत किया कि प्रसादजी दार्शनिक कवि हैं। यह इसीलिए नहीं कि उनका अपना एक दर्शन विशेष है। परन्तु इसलिए कि वे विचार-प्रधान कवि हैं। जीवन के गहनतम विचार उनकी रचनाओ मे स्थान-स्थान पर गुम्फित रहते हैं। उनकी कामायनी मे तो इसका परम विकास मिलता है। वास्तव मे महाकवियों की गौरव-कसौटी उनकी भाषा, उनकी अलक [illegible]मी, और उनकी कोरी भावुकता नहीं,

ीवन के चिरन्तन संघर्षों और राग-विरागों को पहिचानने ग्रौर सुलझाने की उनकी शक्ति ही है। इसी कारण वाल्मीकि ोक्सपीयर, गेटे, तुलसी, टैगोर आदि-आदि विश्व-वन्द्य महा-ावि है। प्रसादजी ने जीवन के इन विश्वव्यापी संघर्षों को ामझा है, उनकी गहन विवेचना की है। विश्व क्या है इसका ाम्भीर विवेचन मनु से सुनिये—

यह नीड़ मनोहर कृतियों का
यह विश्व कर्म रङ्ग-स्थल है;
है परम्परा लग रही यहाँ
ठहरा जिसमे जितना बल है।
वे कितने ऐसे होते हैं,
जो केवल साधन बनते हैं
आरम्भ और परिणामों के
सम्बन्ध सूत्र से बुनते हैं।

जीवन की समस्या पर जब मनु अटक जाते हैं और कहने लगते हैं—

किन्तु जीवन कितना निरुपाय! लिया है देख नहीं सन्देह।
निराशा है जिसका परिणाम, सफलता का वह कल्पित गेह।

तो श्रद्धा की शीतल वाग्धारा कातर विश्व को आश्वासन देती है।

'जिसे तुम समझे थे अभिशाप

× × × ×

'घूम रही है यहाँ चतुर्दिक, चल चित्रो-सी संसृति छाया;
जिस आलोक विन्दु को घेरे, वह बैठी मुसक्याती माया।
भाव-चक्र यह चला रही है, इच्छा की रथ-नाभि घूमती;
नवरस भरी अराएँ अविरल, चक्रवाल को चकित चूमतीं।
यहाँ मनोमय विश्व कर रहा, रागारुण चेतन उपासना;
माया-राज्य ! यही परिपाटी, पाश बिछाकर जीव फाँसना।

× × × ×

भाव भूमिका इसी लोक की, जननी है सब पाप-पुण्य की;
ढलते सब स्वभाव प्रतिकृति बन, गल ज्वाला से मधुर ताप की।

एक झाँकी श्यामल कर्म लोक की देख लीजिये—

"मनु, यह श्यामल कर्मलोक है, धुँधला कुछ-कुछ अंधकार-सा;
सघन हो रहा अविज्ञात यह देश मलिन है धूमधार-सा।

× × × ×

श्रममय कोलाहल, पीड़न-मय, विकल प्रवर्त्तन महायन्त्र का;
क्षण भर भी विश्राम नहीं है, प्राण दास है क्रिया तन्त्र का।

× × × ×

नियति चलाती कर्म-चक्र यह, तृष्णा जनित ममत्व वासना;
पाणिपादमय पंच-भूत की, यहाँ हो रही है उपासना।
यहाँ सतत संघर्ष, विफलता, कोलाहल का यहाँ राज है;
अंधकार में दौड़ लग रही, मतवाला यह सब समाज है।

उपरोक्त वर्णन में कवि ने आधुनिक संसार के संघर्ष की सजीव व्याख्या की है जो स्वयं बोल रही है।

पर्याप्त होगा। कामायनी मे एकाध स्थान पर वात्सल्य की भी बड़ी मधुर व्यञ्जना हुई है—

"माँ"—फिर एक किलक दूरागत गूँज उठी कुटिया सूनी,
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय मे लेकर उत्कण्ठा दूनी;
लुटरी खुली अलक, रज धूमर बाहें आकर लिपट गईं,
निशा तापसी की जलने को धधक उठी बुझती धूनी!

+ + + +

"मैं रूठूँ माँ और मना तू, कितनी अच्छी बात कही,
ले मैं सोता हूँ अब जाकर, बोलूँगा मैं आज नहीं;
पके फलों से पेट भरा है नींद नहीं खुलने वाली।"
श्रद्धा चुम्बन ले प्रसन्न कुछ, कुछ विषाद से भरी रही।

एक उदाहरण कवि की देशभक्ति भावना का और देखकर इस प्रसंग को समाप्त करता हूँ। प्रसादजी भारतवर्ष के अतीत गौरव के पुजारी थे। उनकी रचनाओं मे जातीयता और देश प्रेम की भावनाएँ ओत-प्रोत मिलती हैं उनकी आत्मा अपने मातृभूमि के शब्दो मे प्राय गाया करती है—

"हिमालय के आगन मे उसे प्रथम किरणों का दे उपहार
उषा ने हँस अभिनन्दन किया, और पहनाया हीरक हार!
जगे हम लगे जगाने विश्व, लोक मे फैला फिर आलोक
व्योम तम पुञ्ज हुआ तब नाश, अखिल संसृति हो उठी अशोक!
विमल वाणी ने वीणा ली, कमल-कोमल कर में सप्रीत
सप्त स्वर सप्त सिंधु मे उठे, छिड़ा तब मधुर साम-संगीत!

+ + + +

उनके मानवीय चित्रों में भी यही बात है। आदि पुरुष मनु का पौरुषमय चित्र लीजिये—

अवयव की दृढ़ मॉंस पेशियाँ, ऊर्जस्वित था वीर्य अपार,
स्फीत शिरायें, स्वस्थ रक्त का, होता था जिनमें संचार।
चिन्ता कातर वदन हो रहा, पौरुष जिसमें ओत-प्रोत,
उधर उपेक्षामय यौवन का बहता, भीतर मधुमय स्रोत।

आगे श्रद्धा के मुखमण्डल की आभा है—

आह! वह मुख पश्चिम के व्योम
बीच जब घिरते हों घनश्याम,
अरुण रवि-मण्डल उनको भेद,
दिखाई देता हो छविधाम।

यही श्रद्धा गर्भालसा होकर कैसी हो जाती है—

केतकी-गर्भ-सा मुख पीला
आँखों मे आलस भरा स्नेह
कुछ कृशता नई लजीली थी
कंपित लतिका-सी लिये देह!
मातृत्व बोझ से झुके हुये
बँध रहे पयोधर पीन आज;
कोमल काले ऊनों की नव
पट्टिका बनाती रुचिर साज।

प्रसाद जी की कल्पना साधारण-से-साधारण वस्तु का अंकन कितने वैभव के साथ कर देती है इसका एक उदाहरण

नत मस्तक गर्व वहन करते,
यौवन के घन रस कन ढरते—
हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो,
मौन बने रहते हो क्यों?
अधरों के मधुर कगारों में,
कल-कल ध्वनि की गुंजारों में,
मधु सरिता सी यह हँसी तरल,
अपनी पीते रहते हो क्यों?

इन पूर्ण चित्रों के अतिरिक्त प्रसादजी के काव्यों में रेखा-चित्र अथवा शब्द-चित्र भी अनेकों बिखरे मिलेंगे। इनमें चित्र [illegible] व्यंग्य होंगे अर्थात् शब्दों-द्वारा उसका अंकन तो नहीं [illegible] परन्तु फिर भी वस्तु का चित्र मन पर स्पष्ट उतर आएगा। [illegible] का अवलोकन कीजिए—

१—निर्जन गोधूली-प्रान्तर में, खोले पर्ण-कुटी के द्वार।
दीप जलाए बैठे थे तुम, किए प्रतीक्षा पर अधिकार।

यहाँ 'दीप जलाए बैठे थे'—और 'किए प्रतीक्षा पर अधिकार' इन दो वाक्यांशों द्वारा [illegible]

[illegible]

वैसी ही माया में लिपटी
अधरों पर उंगली धरे हुए,
माधव के सरस कुतूहल का
आँखों में पानी भरे हुए।

× × × ×

किन इन्द्रजाल के फूलों-से
ले कर सुहाग-कण राग भरे
सिर नीचा कर हो गूँथ रही
माला जिससे मधु-धार ढरे।

इस प्रकार की (Myth Making) मूर्ति-निर्माण-विधि का प्रयोग कवि ने स्थान-स्थान पर किया है। झरना में 'विषाद' का चित्र भी ऐसा ही है। यह विशेषता अंग्रेजी कवि शेली में प्रमुख रूप से पाई जाती है। उन्होंने भी ऐसे अनेकों चित्र खींचे हैं। शीतकाल का वर्णन उनका ऐसा ही है—

For winter came The wind was his whip
One choppy finger was on his lip.

× × × ×

इनमे भाषा की व्यञ्जनाशक्ति और मूर्तिमत्ता की सहायता रहती है। निम्नलिखित पक्तियो मे मूर्त चित्र द्वारा सौन्दर्य की विभूतियो का वर्णन व्यग्य है।

तुम कनक किरन के अन्तराल मे,
लुक छिप कर चलते हो क्यो ?

रजनी का 'इन्द्रजाल-जननी !' विशेषण कितना व्यञ्जनापूर्ण है। ये विशेषण कहीं तो चित्रमय होते हैं, जैसे 'बिजली की दिवा-रात्रि !' कहीं कल्पना-प्रधान, जैसे उपर्युक्त समस्त उदाहरणों में—और कहीं भावुकता की विभूति होते हैं—जैसे मनु श्रद्धा से कह उठते हैं '(कौन हो तुम इसी भूले हृदय की चिर खोज !') मनु का हृदय एकाकीपन के भार से आक्रांत था, उसमें एक विम्ब था जो किसी शीतल वाग्धारा की खोज में था। श्रद्धा को उन्होंने इसी रूप में पाया। भावुकता कितनी संकेतपूर्ण है।

अब एक दृष्टि-पात प्रसादजी की अप्रस्तुत योजना पर और कर लिया जाय। प्रसादजी का प्रकृति-निरीक्षण बड़ा विस्तृत है—उनकी अलंकरण-सम्पत्ति बड़ी विशद है। वे प्राकृतिक क्षेत्र से नवीन-से-नवीन उपमानों का बिना किसी कठिनता के चयन कर लेते हैं—साथ ही प्राकृतिक व्यापारों का भी उनके अप्रस्तुत विधान में काफी योग है। इसका विवेचन पहिले ही कर चुका हूँ। (प्रसादजी ने प्राचीन और नवीन, पौर्वात्य और पाश्चात्य विधियों का सुन्दर समन्वय किया है।) दो एक उपमाओं के नमूने देखिए। मनु कहते हैं—

१—आज अमरता का जीवित हूँ
मैं वह भीषण जर्जर दम्भ,
आह सर्ग के प्रथम अंक का
अधम पात्रमय-सा विष्कम्भ'

२—किरण की उपमाएँ कितनी व्यञ्जक हैं—

धरा पर झुकी प्रार्थना-सदृश, मधुर मुरली-सी फिर भी मौन,
किसी अज्ञात विश्व की विकल वेदना दूती-सी तुम कौन!
३—प्रतिमा में सजीवता-सी बस गई सुछवि आँखों में।

कहीं-कहीं शेली की भाँति प्रसादजी मूर्त वस्तुओं के स्पष्टीकरण के लिए अमूर्त उपमाएँ प्रस्तुत करते हैं—

'बढ़ने लगा विलास-वासना-सा, वह नीरव जल संधान!'

निम्न पंक्तियों में रूपक का बड़ा ही सचित्र प्रयोग हुआ है। इसमें कवि की चित्र-ग्राहिणी कल्पना का महत्त्व प्रकट होता है—साथ ही श्लेष, उपमा, रूपक आदि का प्रयोग भी पुरानी दृष्टि से श्लाघ्य है!

समय-विहग के कृष्ण-पक्ष में रजत-चित्र-सी अंकित कौन
तुम हो सुन्दरि तरल तारिके! बोलो कुछ बैठो मत मौन?

प्रसादजी ने अपने नवीन ढँग से भी कुछ अलंकार-योजना की है—

विकसित सरसिज वन-वैभव, मधु ऊषा के अञ्चल में
उपहास करावे अपना जो हँसी देखले पल में।

इसके अतिरिक्त पाश्चात्य अलकारों का प्रयोग भी नवीनता के साथ किया गया है। विशेषण-विपर्य्यय, मानवीकरण, आदि अलकार कवि की अभिव्यञ्जना-शक्ति और भाषा की वक्रता का वैभव बढ़ाते हैं।

विशेषण विपर्य्यय—

१—यह मूर्छित मूर्छना आह-सी निकलेगी निस्सार!
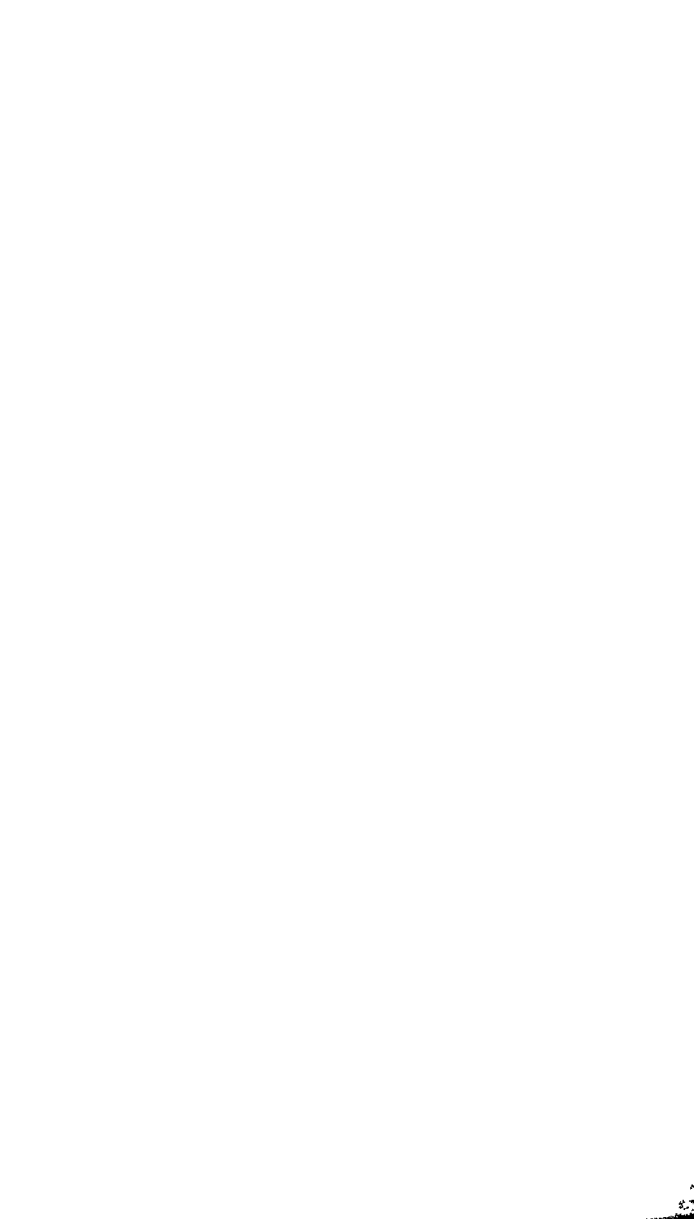
अमर्त्य वीर पुत्र हो दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो
प्रशस्त-पुण्य पंथ है, बढ़े चलो, बढ़े चलो !

२—हे लाज भरे सौन्दर्य बतादो मौन बने रहते हो क्यों ?
यहाँ शब्दों की गति ही इस प्रकार है कि 'क्यों' के उपरांत एक साथ 'छम' की ध्वनि अपने आप सुनाई पड जाती है।

३— मींड़ मत खिंचे बीन के तार !
निर्दय अंगुली अरी ठहर जा
पल भर अनुकम्पा से भर जा
यह मूर्छित मूर्छना आह-सी निकलेगी निस्सार !

इसी प्रकार जब वर्णन-धारा वेगवती होती है तो छन्दों में एक प्रवाह मिलता है। कामायनी में कवि की छन्द-योजना का विलास दर्शनीय है।

भाषा—आरम्भ में प्रसादजी की 'पथरीली (?) भाषा' बहुत दिनों तक लोगो की समझ में नहीं आई और उस पर समालोचकों के कुलिश-प्रहार निरन्तर होते रहे। इसका कारण उनकी तत्सम-प्रियता थी। उन्होंने संस्कृत की कोमल-कान्त शब्दावली का प्रयोग भाषा को अलकृत करने के लिए शुरू से ही किया है। इसके अतिरिक्त उनकी प्रारम्भिक रचनाओं की भाषा मे लचरपन भी मिलता है—झरना की भाषा अधिक व्यवस्थित नहीं है—कहीं-कहीं व्याकरण की त्रुटियाँ भी हैं। परन्तु ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया प्रसादजी के हाथों में भाषा की लाक्षणिक मूर्तिमत्ता, सांकेतिकता

स्थान बड़ा ऊँचा है। एक चिंतन प्रधान, व्यापक, एवं करुण अनुभूति जिसमे रंगीन अद्भुत-प्रिय कल्पना का वाँछित योग रहता है उनकी अपनी विशेषता है।

मातृगुप्त के आदर्शानुसार प्रसादजी की कविता "वर्णमय चित्र है जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाती है। अंधकार का आलोक से, जड़ का चेतन से, और बाह्य जगत का अन्तर्जगत् से सम्बन्ध कराना उसका मुख्य उद्देश्य है।" कामायनी का कवि हिन्दी के किसी भी कवि की समकक्षता प्राप्त कर सकता है।

सृष्टा प्रतीत होते हैं—उन्होंने जितने भी छन्द लिखे हैं उनमें सबमें उन्होंने अपने काव्य के सौन्दर्य की पात्रता मात्र देखी है। उस पात्रता के लिए स्वर-संगीत एक आवश्यक तत्व उन्होंने समझा है। स्वर-संगीत का अर्थ शब्दों की सुगीतिता नहीं, जैसी पन्त में है। इसका अर्थ कोमल सुचारु वर्णों का चेतन प्रयोग भी नहीं, न इसका अर्थ संगीत की लय-गति है। इसका अर्थ है अक्षरों के स्वरों का एक दूसरे में द्रवित होते चले जाना। इस प्रकार छन्द में द्रवित स्वरों का प्रवाह है, जिससे एक संगीत स्वयं उद्मुदित होने लगता है—इसी के अनुकूल उन्होंने छन्दों का चयन किया है।

'निज सौध सदन में उटज पिता ने छाया
मेरी कुटिया में राज भवन मन भाया'—

साकेत के इन चरणों में संगीत है किन्तु इन पंक्तियों को देखिए:—

तू बढ़ जाता अरे अकिंचन, छोड़ करुण स्वर अपना
सोने वाले जाकर देखें, अपने सुख का सपना

—लहर पृ० ५१

इनमें स्वर-सगीत है। छन्द के स्वर बहे बहे एक चरण से दूसरे में अपनी लय को तिरोहित आगे को उद्बुद्ध करते हैं। दोनों के संगीत का सिद्धान्त अलग-अलग है। यह स्वर-संगीत प्रसादजी के प्रत्येक काव्य के अन्तर में प्रवाहित है। यह शब्दों के कारण नहीं वरन् छन्दो के स्वभाव के कारण है।

इन्होंने छन्द कितने ही प्रकार के लिखे हैं, 'झरना' जैसे संग्रह में ५८ छोटी छोटी कविताएँ हैं; और प्राय. प्रत्येक कविता नये छन्द में लिखी गयी है—किन्तु नया छन्द लिखा गया इस ज्ञान से कि यह भिन्न जाति का हो और बस; उन्होंने यह ठीक नहीं जाना कि कौनसा छन्द लिखा जा रहा है। इसका फल यह हुआ कि उन्होंने स्वतन्त्रता पूर्वक शास्त्र निर्णीत भिन्न भिन्न छन्दों को मिलाकर अपने लिए एक की रचना की है।

'झरना' में झरना नाम की पहली कविता का एक छन्द शास्त्र प्रथा विरुद्ध छः चरणों का है—

मधुर है स्रोत, मधुर है लहरी
न है उत्पात, छटा है छहरी
मनोहर झरना
कठिन गिरि कहाँ विदारित करना।
बात कुछ छिपी हुई है गहरी
मधुर है स्रोत मधुर है लहरी।

प्रथम दो चरण १७-१७ मात्रा के हैं। तीसरा ६ मात्राओं का है, चौथा फिर १७ मात्राओं का है। पाँचवा भी है ऐसा है। छठा तो टेक की भाँति सबसे ऊपर के चरण की दुहरावट है। १७ मात्राओं वाले चरणों में ८ और ६ पर यति है। किन्तु यह यति का नियम आवश्यक नहीं कवि ने इसे आवश्यक नहीं समझा है, जहाँ यह रहा है वहाँ चरण अपने आप में [illegible]- [illegible] और सुन्दर रहा है आन्तरिक तालबाल की मात्रा का

किन्तु लय विराम नहीं। इसलिए स्वर का नाद-स्फोट उसे चरण बनाता है, वह स्वर-धारा किन्तु आगे बढ़ते ही जाती है 'थी' और 'राशि' पर नाद-स्फोट के कागारों को उलघते उलंघते न केवल भाव उग्र होते हैं लय भी तीव्र होती है—

और थे प्रणत वहीं गुर्जर-महीप भी—और यहाँ लय विराम आता है। इस प्रकार इस छंद का विधान हुआ है। इस सब में स्वर-धारा को बांधे रखने वाला छंद हिन्दी का 'कवित्त' अथवा 'मनहरण' है। यह कवि ने ऊपर की सब से पहली दो पंक्तियों से ही प्रकट कर दिया है, और सारा छन्द जिसे हिन्दी मे कभी केंचुआ कभी रबड़ छन्द बतलाया गया था, केवल उसी अति-प्रचलित कवित्त की प्रयोग भिन्नता थी। उसी कवित्त के चरणों तथा चरणाङ्गों को भावानुरूप नाद-स्फोटों तथा लय-विरामों से सजाकर नये रूप मे उपस्थित कर दिया। इससे कवि की सृजन की मौलिकता का कितना असदिग्ध पता मिलता है।

तो जब तक कवि छोटे छोटे उद्गारों को छोटी छोटी भाषा मे बाँधता रहा उसने ये प्रयोग किये, आगे बढ़ते ही जैसे उसने महाकाव्य की रचना की रूप रेखा खड़ी की उसने वे सब प्रयोग करना छोड दिया और वह अपने विधान मे छदों के प्रयोगात्मक महत्त्व को छोड सिद्ध रूप को लेकर चलने के लिए प्रस्तुत हुआ। यहाँ भी वह कम स्रष्टा नहीं, किन्तु यहाँ वह इतना गंभीर हो गया है कि उसके प्रयोगो में जो उतावलापन दीखता है, वह छोड़ दिया है।

वासना में रूपमाला छन्द का उपयोग है। यह छंद १४, १ के यति से अन्त में ऽ। के साथ होता है। 'लज्जा' में फिर पद पादाकुलक है। 'कर्म' में 'सार' छन्द के समकक्ष, १६, १२ की यति का नहीं वरन् चरण-पूर्ति का छन्द है।

कर्म सूत्र संकेत सदृश थी
सोमलता तब मनु को,
चढ़ी शिंजिनीसी, खींचा फिर
उसने जीवन धनु को।

कहीं पर यह १६-१२ का न होकर १४-१४ का भी कर दिया गया है—

कर्म यज्ञ से जीवन के
सपनों का स्वर्ग मिलेगा;

'ईर्षा' में कवि ने दो विभिन्न छन्दों के चरणों से एक मिश्र छन्द बनाया है—

पल भर की उस चंचलता ने
खो दिया हृदय का स्वाधिकार!

इसमें पहला चरण १६ मात्रा का पदपादाकुलक है और दूसरा १६ का पद्धरि है।

'इडा' में गीति-पदों को स्थान दिया गया है, किन्तु वह भी १६ मात्राओं के चरणों का द्वित्व मात्र है। टेक १६ की ही है।

स्वप्न में फिर १६-१४ का ककुभ के सदृश एक छन्द है, पर इसमें यति को ही चरण पूर्ति नहीं माना गया।

प्रसादजी की भाषा

कवि अपना कवि-कर्म करता हुआ भाषा से सबंद्ध हो जाता है। उसका काव्य भाषा बनकर उद्‌गरित होने लगता है। इस उद्‌गार पर उसकी अपनी अभिव्यक्ति का भार होता है। भाषा अथवा उद्‌गार यद्यपि उसके सम्पूर्ण अन्तरत्व को प्रकाश नहीं करती और उसमें जो कुछ प्रकट है वह भी उसकी संपूर्णता नहीं—वह सब तो उसके अपने अन्तर-विराट के स्फुलिंगों की धारा मात्र है। फिर भी वह अन्तरत्व के लिए ही है। जहाँ कवि केवल इस स्फुलिंग धारण को दिखाने के लिए अन्तर-वह्नि को जागरित करता है, और जहाँ वह अन्तर-वह्नि की प्रबल उद्दीप्ति से विवश हो भाषा-स्फुलिंगो रोक नहीं सकता इन दोनो अवस्थाओ में अन्तर है—दूसरी अवस्था मे कवि का अन्तर ठीक अनुवादित हो रहा है। पहली अवस्था में कवि में छद्म आ जाता है।

कवि के पास भाषा-सकेतो के अतिरिक्त और कोई साधन निजी भाव विनिमय का नहीं। भाषा वह माध्यम है जो उसको जानने वाले व्यक्तियों के मानस-धरातल को एक कोटि में लाकर रख

केवल संकेत-विन्दु-मात्र का रूप धारण कर रहती है—वह तब पूर्ण अर्थ को पूर्णता के साथ अभिव्यक्त नहीं कर सकती। वह उस अर्थ को अपनी अशक्त अपूर्णता के साथ केवल ध्वनित करती है—तब अर्थ वाच्य से काम अधिक हो जाता है—किन्तु इससे पूर्व कवि में वह अवस्था मिलती है जहाँ भाव से अधिक भाषा का प्राधान्य दिखाई पड़ता है। इस अवस्था में कवि जितने भी भाव लाता है वे शब्दमय होते हैं। एक एक भाव जितने भी अधिक से अधिक शब्द हो सकते हैं उतने शब्दों में व्यक्त होता है। तब कवि बजाता अधिक है गाता कम है। वह हृदय का रस शब्दों में कम उंडेल पाता है—शब्दों के रस को ही उलटा हृदय में उँडेलना चाहता है। प्रसादजी के साथ इन दोनों में से कोई भी बात नहीं लगती।

उनमें हमें आरम्भ से ही विशिष्ट गंभीरता मिलती है। उनकी भाषा की भँवे भीषण आवेगावस्था में भी विकृत नहीं होतीं। यों एक-आध कम हो जाने से कुछ बनता बिगड़ता नहीं—किन्तु वह चपलता, हास्य, क्रोध, करुणा ये भाषा में खिलखिलाहट अथवा विकलता का उद्भास एक प्रकार से शून्य ही है—एक मन्थर गति का विधान—एक अन्तर स्थिरता की जमी हुई जड़—अडिग और अचल सुमेरु भी आदि से अन्त तक के काव्यों में हमें मिलती है।

ऐसी अवस्था में केवल शब्द-सौन्दर्य के बाह्य-उपकरणों का विकास प्रसादजी को नहीं मिलेगा। प्रेम-पथिक की भाषा और

झरना के उद्धरण में कवि में भाषा-चैतन्य की कमी है। शब्द आये हैं, बस वे आ गये हैं—किन्तु फिर भी उनके विन्यास में छवि करुणा बैठाये हुए है। ये भाषा का कारुण्य उनके लहर के गीतों में भी विद्यमान है, और कामायनी में तो बहुत ही प्रस्फुट है—

> कौन हो तुम विश्व माया कुहक सी साकार
> प्राण सत्ता के मनोहर भेद सी सुकुमार!
> हृदय जिसकी कान्त छाया में लिये निश्वास
> थके पथिक समान करता व्यजन ग्लानि विनाश।

कामा० पृ० [illegible]

स्वर लहरी में कुछ विशिष्ट स्वरों आगम और विशेष के निषेध जैसे एक करुणा-लहरी लय की नर्तन कर उठती है, उसी प्रकार भाषा विकास में भावों से मुक्त भी एक करुणा ऐसे ही मिलती है जैसे प्रसाद, ओज और माधुर्य गुण मिलते हैं। इस प्रकार कवि ने स्वत· भाषा का हृदय के मूल काव्य-रस के पास पहुँचा देने का प्रयत्न किया है--उसका सौन्दर्य कितना अभूत हो चला है--वह कहता है—

अधर में वह अधरो की प्यास
नयन मे दर्शन का विश्वास,
× ×
टूटते जिससे सब बन्धन
सरस-सीकर से जीवन-कन लहर, पृ०१६

अथवा

झील में झाईं पडती थी;
श्याम-वनशाली तट की कान्त
चन्द्रमा नभ में हँसता था,
बज रही थी वीणा अशान्त॥
तृप्ति मे आशा वढती थी,
चन्द्रमा मे मिलता था ध्वान्त।
गगन मे सुमन खिल रहे थे,
मुग्धहो प्रकृति स्तब्ध थी शान्त॥

झरना, पृ० ५७

झरना के उद्धरण में कवि में भाषा-चैतन्य की कमी है। शब्द आये हैं, बस वे आ गये है—किन्तु फिर भी उनके विन्यास में कवि करुणा बैठाये हुए है। ये भाषा का कारुण्य उनके नाटक के गीतों में भी विद्यमान है, और कामायनी में तो बहुत ही प्रस्फुट है—

> कौन हो तुम विश्व माया कुहक सी साकार
> प्राण सत्ता के मनोहर भेद सी सुकुमार!
> हृदय जिसकी कान्त छाया मे लिये विश्वास,
> थके पथिक समान करता व्यजन ग्लानि विनाश!

कामा० पृ० ६०

भाव आश्चर्योल्लास से पूर्ण हैं पर भाषा सकरुण है। भाषा पर इस करुण पालिश सुकरत्व को हम कुछ समझ पाते हैं। वे इतने ऊँचे धरातल पर हैं कि साधारण भाव-अभिव्यक्ति के लिए उन्हें विशेष भाषा व्याहृत करने की, इससे अधिक [illegible] करने की आवश्यकता नहीं। [illegible]
नहीं। [illegible]
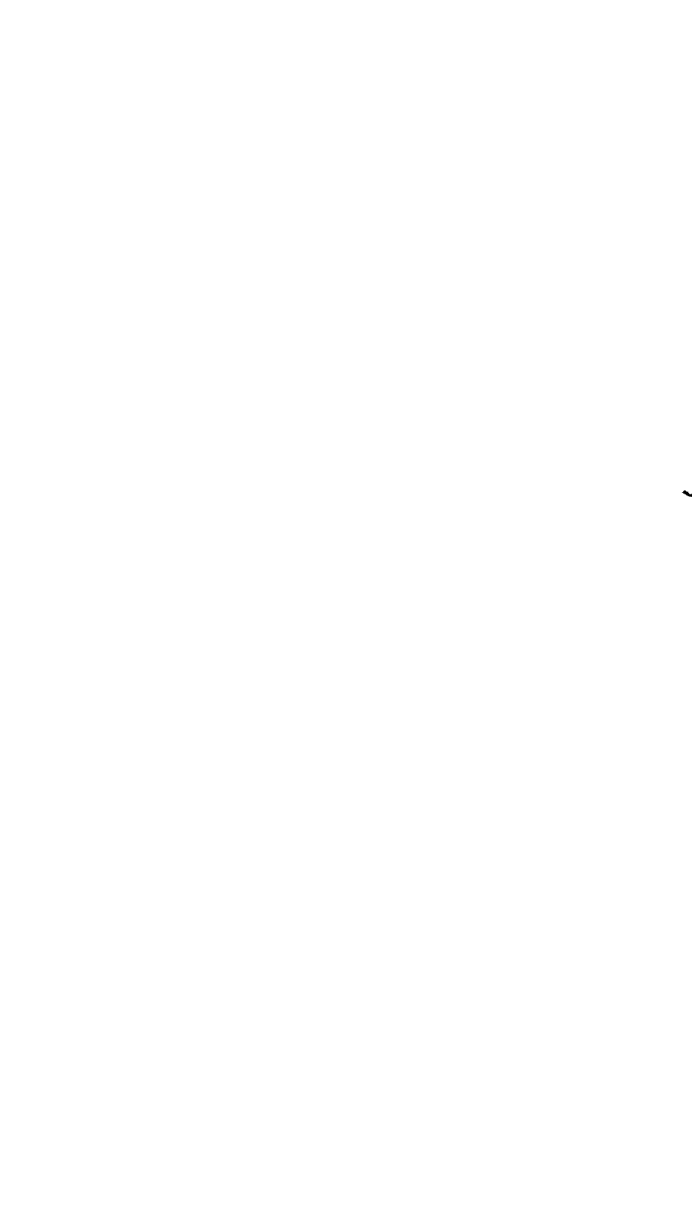
हुए चन्द्रगुप्त के हित में यही चाहता है कि राक्षस उसका मंत्रित्व स्वीकार करले। चाणक्य की सारी चालों का यही फल होता है। राक्षस मन्त्रित्व स्वीकार करने को बाधित हो जाता है। यही इस नाटक की फल सिद्धि है। इसमें केवल बुद्धि और कूटनीति का चमत्कार है। इस नाटक की कथावस्तु भी बड़ी पेचीदा है। इसमें कोमल भावों के लिए स्थान नहीं है। शृङ्गार का नितान्त अभाव है। चन्दनदास और राक्षस का सख्य तथा दोनों मंत्रियों की स्वामि भक्ति दर्शनीय है। इस नाटक में चन्द्रगुप्त को शूद्रपुत्र ही माना गया है।

चन्द्रगुप्त को ही लेकर आधुनिक युग के दो भिन्न-भिन्न प्रान्तों के महान कलाकारों ने जिनमें एक हैं बङ्गाल के द्विजेन्द्रलाल राय और दूसरे बनारस के जयशङ्करप्रसाद—नाटक लिख कर अपनी अपनी भाषा का गौरव बढ़ाया है। इन दोनों नाटकों का दृष्टि कोण मुद्रा राक्षस से भिन्न है। इन दोनों में चन्द्रगुप्त अपने गुरुदेव चाणक्य के अतिरिक्त अपना कुछ व्यक्तित्व रखते हैं (एक स्थान में मुद्राराक्षस में भी चन्द्रगुप्त ने अपना व्यक्तित्व दिखलाया है किन्तु वह चाणक्य की मंत्रणा से) और अपने पौरुष के साथ अपना साम्राज्य स्थापित करते हैं। दोनों ही नाटककारों ने यूनानी सेनापति सिल्यूकस की दुहिता से चन्द्रगुप्त का विवाह कराया है। किन्तु राय महोदय ने उसका नाम हेलेन रक्खा है, प्रसादजी ने उसका नाम कोर्नीलिया रक्खा है। इन दोनों नाटकों में सन्धियों की जोड़

पर एकीकरण किया है। राय महोदय ने कात्यायन को चाणक्य से मिला दिया है अर्थात् दोनो ही के योग से नन्द का पतन होता है।

चाणक्य और नन्द के वैर में मूल कारण दोनो नाटककारों ने भिन्न-भिन्नआधार पर चाणक्य और नन्द का वैर कात्यायन की साजिश से कराया है। चाणक्य को नन्द के यहाँ पुरोहित कर्म के लिए आमन्त्रित करा कर नन्द के साले वाचाल द्वारा उसका अपमान कराया है। प्रसादजी ने नन्द और चाणक्य का पुराना वैर दिखाया है। नन्द ने चाणक्य के पिता चणक का सर्वस्व हरण कर लिया था। इस लिए चाणक्य स्वयं ही नन्द से क्रोधित था और तक्षशिला से लौटने पर चाणक्य का नन्द की सभा मे अपमान हुआ। इस वात ने चाणक्य के वैर भाव को और भी उग्र वना दिया।

यूनानियो के सम्वन्ध में राय महोदय चन्द्रगुप्त को भेदिये के रूप में सिकन्दर और सेल्यूकश के साथ स्टेज पर लाते हैं। चन्द्रगुप्त अपने वाक्चातुर्य तथा सिकन्दर की उदारता से कैदी होने से वच जाता है। प्रसादजी इसके पूर्व की भी कथा वतला कर पाठको को आश्चर्य में नहीं रखते। राय महाशय सिकन्दर के सामने सेल्यूकस और एन्टेगोनस के साथ वाक्-युद्ध कराते हैं। प्रसादजी के नाटक में एन्टीगोनस का स्थान फिलिपस ले लेता है। प्रसादजी के नाटक मे चन्द्रगुप्त सिकन्दर के देखते देखते अपने वाहुवल से अपने को मुक्त कर भाग जाता है यह जरा

और प्रेम दूसरी ओर कोर्नीलिया चन्द्रगुप्त का परस्पर प्रेम तथा राजनीतिक आवश्यकता। राय महोदय ने छाया और हैलना (जो कि मालविका और कोर्नीलिया के स्थानापन्न हैं) के सम्बन्ध में इस समस्या को बड़ी सुन्दरता के साथ हल किया है। उन्होंने दोनों ओर से उदारता की पराकाष्ठा दिखलायी है। हैलना के मुख से क्या ही सुन्दर शब्दों में कहलाया है "आओ बहिन हम दोनों नदियां एक ही सागर में जाकर लीन हो जायँ। सूर्य-किरण और वृष्टि मिलकर मेघ के शरीर में इन्द्रधनुष की रचना करें, काहे का दुख है बहिन एक ही आकाश में क्या सूर्य और चन्द्र दोनों नहीं उदय होते।" यह समझौता बड़ा सुन्दर और काव्य पूर्ण है किन्तु इसमें दो विवाह का नैतिक प्रश्न रह जाता है और नाटक में जहाँ सभ्यताओं की चोट दिखाई है वहाँ दो विवाह की प्रथा से देश का नैतिक मान घटाना बहुत सुन्दर नहीं जंचता। अन्त में हम हैलना अथवा कोर्नीलिया और चन्द्रगुप्त के विवाह के सम्बन्ध में यह अवश्य कहेंगे कि राय की हैलना विश्व प्रेम से अधिक प्रेरित है। वह निजी आकर्षण से चन्द्रगुप्त के साथ विवाह करने के लिए इतनी लालायित नहीं जितनी कि वह दो महान देशों में संधि स्थापन के लिए। प्रसादजी की कोर्नीलिया चन्द्रगुप्त की ओर कुछ आकर्षित मालूम पड़ती है और वह इस विवाह को बलिदान नहीं समझती।

राय महाशय की हैलेना विश्व प्रेम के आवेग में थोड़ी देर के लिए पितृ-स्नेह को भूल जाती है, यद्यपि वह पीछे से सुधर